७५) श्री विवेक मार्तण्ड में लगाए १२

७५) पंडितजी की तनखा में दिये

१२५) श्रावक लोगों को पुस्तकें भेजी उसकी वी पी. में

२७५) इतने रुपे दूसरे कार्यों में लगे

श्री १०८ आचार्य श्री सूर्यसागर ग्रन्थमाला

परमपूज्य १०८ आचार्य

श्री सूर्यसागरजी महाराज द्वारा संगृहीत

स्वभाव बोध मार्तण्ड

सम्पादक—
श्रीयुत पं. मुन्नालालजी काव्यतीर्थ, इन्दौर

प्रकाशक—
वर्णी लक्ष्मीचन्द्र जैन,
आचार्य श्री सूर्यसागर संघ

मुद्रक—
श्रीधर वंशीधर पंडित
चिन्तामणि प्रिंटिंग प्रेस ८९ यशवन्तगंज, इन्दौर.

प्रथम बार १०००] [वी. सं. २४७५

★ प्रस्तावना ★

परम पूज्य प्रातः स्मरणीय आचार्य प्रवर सूर्य सागरजी महाराज ने अपने समय का बहुत ही सदुपयोग किया है। आपने कितने ही ग्रंथों में अपने अनुभव प्रकाशित किये हैं। जिनसे वर्तमान काल में तत्व जिज्ञांसुओंको बहुत लाभ हो रहा है। इस ग्रन्थ में भी जिस विषय को लिखा है, वह तो ग्रंथ के नामसे ही जाना जा सकता है।

यह जीव अनादिकाल से कर्म की पराधीनता में पर पदार्थों में ही ममत्व करता आया है। अपने आपको पहिचान नेका इसने जरा भी प्रयत्न नहीं किया। करे भी कैसे? क्योंकि न तो इसने जिनवाणीका मनन किया और न सद्गुरुओंकी संगति ही की। अब भी यदि सत्प्रयत्न करे तो स्वपर का विवेक कर आत्मा की पहिचान कर सकता है। बिना आत्मा को पहिचाने सच्ची शांति मिल नहीं सकती। आत्मा के पहिचानने के जो उपाय होने चाहिये वे ही उपाय इस पुस्तक में बडी सरलता से बतलाये गये हैं।

धर्मात्मा भाइयों से मेरा अनुरोध है, एक वक्त इस ग्रथ को आद्यंत जरूर पढें। फिर देखेंगे महाराज श्री ने धर्मार्थियोंका कितना उपकार किया है।

इसमें कुछ अशुद्धियां रह गई है, वह हमने अशुद्धि शुद्धि पत्रिका मे निकाल दी हैं, कुछ रहगई हैं तो विज्ञ पाठक सुधारकर ही स्वाध्याय करें।

इन्दौर
चैत्र सुदी १ सं. २००६

समाज सेवक—
मुन्नालाल जैन का. ती.

स्वभाव बोध मार्तन्ड

संग्रहीत व विरचित कर्त्ता
श्री दिगम्बर जैनाचार्य पूज्यपाद १०८ श्री सूर्यसागरजी महाराज
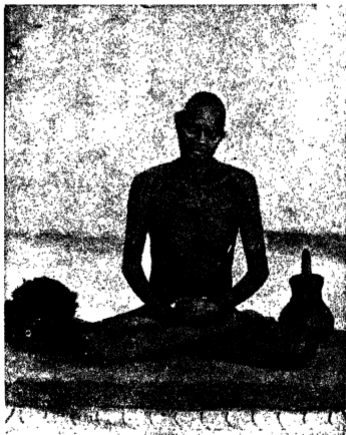
चातुर्मास इन्द्र भवन तुकोगंज इन्दौर माघ सुदी ५ सं. २००५

ॐ नमः सिद्धेभ्य

श्री दि. जैनाचार्य श्री १०८ सूर्यसागरजी महाराज द्वारा

विरचित वा संग्रहीत—

स्वभावबोधमार्तंड ।

मंगलाचरणं । दोहा—

सब सिद्धों को नमनकर आतम सुगुण करण्ड ।
भव्य जीव हितकारकं लिखूं बोध मार्तण्ड ॥१॥
स्यावाद वाणी नमों स्यात्पद चिन्हित जोइ ।
संशयतिमिर विध्वंसकूं मारतण्डवत होइ ॥२॥
परम दिगम्बर गुरु नमूं, आशा विषय विहीन ।
स्वात्महितैषी अक्षाजित, आतम में सबलीन ॥३॥

सिद्धान्त शास्त्र में आचार्योंने कर्मके तीन भेद बतलाए हैं (१) द्रव्यकर्म (२) भावकर्म (३) नोकर्म। मोटे रूपसे द्रव्यकर्मके मूल भेद आठ प्रकारके बतलाए हैं जैसे- ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अतराय। इन्हींके उत्तर भेद १४८ और आग संख्यात, असंख्यात और अनंत भेद बतलाए हैं। भाव कर्म भी—राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभादिके भेदसे नाना प्रकारके कहे गये हैं। नो कर्म-तीन शरीर-औदारिक [मनुष्य तिर्यंचका शरीर] वैक्रियिक [देव नारकियों का शरीर] आहारक [छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनिको तत्व विचार करते समय कोई संदेह होने पर उसके समाधान होनेके लिये केवली या श्रुत केवलीके दर्शनार्थ मुनिके दाहिने मस्तकसे निकलनेवाला पुरुषाकार पुतला जो श्वभ्र वर्णका होता है आहारक शरीर कहलाता है] ऐसे तीन प्रकारके शरीर और आहार-शरीर-इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास-भाषा और मन इन छह प्रकारकी पर्याप्तिरूप होनेवाले कर्म पुद्गल परमाणु नोकर्म कहे जाते हैं। ऐसे तीन तरहके कर्मोंसे रहित, स्वाभाविक-आत्म गुणोंके विरोधी ज्ञानावरणादि कर्मोंके अभावमें अनंतज्ञानादि अनंत गुणोंके भंडार, समस्त सिद्धोंकू नमस्कार करके "मुमुक्षु भव्य जीवोंका कल्याण हो" इस भावनासे इस आत्म प्रबोध मार्तंड नामके ग्रंथका सृजन

करता हूं । सो ये सुजन कैसा होगा जैसे कोई मालाकार [माली] किसी सुन्दर माला बनानेके लिये इधर उधर बिखरे हुए फूलोंको एकत्रितकर माला बना देता है उसी तरह मैं भी परंपरागत पूज्य आचार्योंके प्रणीत वाक्योंको लेकर इस ग्रंथका प्रणयन करता हूं । अपनी स्वेच्छासे मैं कुछ भी नहीं कहूंगा ।

हरएक संसारी जीव अनादि कालसे कर्मोंसे प्रेरित होकर कर्मफल चेतनाका आस्वादन करता हुआ घनाकार ३४३ राजू प्रमाण भवसागरमें गोते लगाता हुआ महान आवागमनके दुखोंसे दुखी होरहा है । इस जीवकी सतत यही भावना बनी रहती है कि मैं किसी प्रकार भी ऐसा सुखी हो जाऊं जिसका कभी वियोग न हो, उस सुखके प्राप्त करनेके लिये अपने क्षयोपशमिक ज्ञानके अनुसार प्रयत्न करता है, लेकिन उस प्रयत्नके करनेमें ही गल्ती हो जाती है, उसीसे भावनाके अनुसार सिद्धी नहीं कर पाता, सो ठीक भी है जिस कार्यका जो कारण होता है वह कार्य तो वैसे कारणके संयोगके मिलने परही होसकता है, अन्यथा नहीं । सच्चे सुखके प्राप्त करनेके लिये हमें वही कारण मिलाने चाहिये जिनके मिलने पर हमें सच्चा सुख मिल सकता है ।

प्रश्न— अब सोचना तो ये है कि वे कौनसे कारण हैं, जिनके मिलने पर सच्चा आत्मीक सुख मिल सका है ? समाधान—

जबतक इस जीवके पर पदार्थोमें इष्टानिष्टकी कल्पना बनी रहेगी-उनके संयोगमें सुखी और उनके वियोगमें दुखी होनेकी कल्पना बनी रहेगी तब तक किसी प्रकारका स्थिर सुख मिल नहीं सकता है। क्योंकि ये तो घोर अज्ञान है कि जो पदार्थ अपने नही हैं उनको खीचातानीसे अपना बनाया जाय, और ये भी निश्चित है कि जो चीज अपनी नहीं है वह किमी प्रयत्नसे भी अपनी नहीं हो सकती है। जब वह अपनी नहीं होती तब आत्मामें नाना प्रकारके अशुभ विकल्प खडे होजाते हैं। जिनसे ऐसे अज्ञानजनक नवीन २ कर्मोका संबंध होता है जिनके सद्भावमें आत्मा कभी अपने लक्षको प्राप्त नहीं कर सकता है। अत एव सबसे पहिले ऐसे सद्गुरुओंकी संगतिके मिलानेका यत्न करना चाहिये जो ऐसे आदर्श हों जिनमें हमारा प्रतिबिंब साफ२ झलक सके। "संगति तें गुण होत हैं दुःसंगति गुण जांय" बिना गुरुके सदुपदेशके सच्चा उपाय सूझता नहीं और बिना सच्चा उपाय किये सच्चा सुख मिलता नहीं। सद्गुरुने ही बतलाया है कि संसारमें दो द्रव्यकाही खेल होरहा है[१]जीव (२)अजीव। अजीव द्रव्य पांच तरह

का बतलाया गया है पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल। इनमें ४तो अरूपी हैं एक पुद्गलद्रव्यरूपी है। दृश्यमान जितने भी पदार्थ हैं सब पुद्गल ही पुद्गल हैं क्योंकि सब पदार्थ पुद्गलसे ही बने हुवे हैं। शुद्ध पुद्गल तो परमाणु हैं और परमाणुओंके मेलसे बननेवाले सूक्ष्म स्थूल पिंडरूपसे दृश्यमान सभी पदार्थ हैं। कर्मभी पुद्गल हैं। इन्हीके संबंधसे परपदार्थोंके संयोग वियोगकी कल्पनामें ये जीव उलझा हुआ है, इन्हीं कर्मोंक संयोगसे जीव अज्ञानी बना हुवा है उसी अज्ञानसे लक्ष्यभ्रष्ट हो रहा है, जिन आत्माओंने इनसे पृथकता की है वह हमशाको सुखी हो गये। वही सिद्ध कहलाते हैं। सिद्धात्माए तो केवल अपने गुण रूपी विभूति-के अधिपति होते हैं वे परपदार्थोंसे जरा भी संसर्ग नहीं करते, इसीसे वे कर्मोंसे तिरस्कृत नहीं होते। वे तो आत्मिक सुखका आस्वादन करते हुए सदा संतुष्ट रहते हैं, वडे २ विज्ञानियोंने ज्ञान नेत्रसे उनके स्वरूपका अवबोध किया तब अन्य जीवोंके उपकारार्थ उनके गुणोंके वर्णनके साथ २ उनके स्वरूपका दिग्दर्शन कराया। जो कोई उन सरीखे बननेकी भावना करते हैं उन्हें वैसे ही प्रयत्न करना चाहिये तभी उस तरहके बन सकते हैं। सबसे पहिले सद्गुरुके संयोगका उपाय मिलाओ, सद्गुरुओंके उपदेशकी प्राप्तिके प्रयत्न करो, उपदेशकी प्राप्तिसे कर्तव्यका भान होगा उससे भेदविज्ञान

होगा, जिससे पदार्थके स्वभावके यथार्थ जानकार हो सकोगे। तभी सच्चा कल्याण होगा।
भेदज्ञानी सम्यग्दृष्टि भगवानके संमुख प्रार्थना करता है कि—

शरीरतः कर्तुमनन्तशक्तिं विभिन्नमात्मानमपास्तदोषं।
जिनेन्द्र कोषादिव खड्गयष्टिं तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः ॥

जैसे तमाम पदार्थ आत्मासे भिन्न हैं उसीतरह अभिन्न सा दीखता हुआ यशरीर भी भिन्नही है क्योंकि ये भी पौद्गलिक है। जीवको जितना मोह परपदार्थोंसे रहता है क्योंकि उनको वह कभी अपनसे अलग नहीं देखना चाहता, उसीतरह शरीरसे तो और भी अलग नहीं होना चाहता इस सरीरके लियेही सब कुछ करता है, इसकी रक्षाके लिये खाद्याखाद्यका कुछ भी विवेक नहीं करता, परन्तु ये शरीर इतना कृतघ्न है कि अखीरमें धोका दिये बिना नहीं रहता है। आयुकर्मके खिरतेही आप संबध छोडकर यहीं रहजाता है, एक मिनट भी साथ नहीं देता है, आत्माको पर्यायान्तरमें गमन अकेलाही करना पडताहै। ऐसी हालत देखकर ज्ञानी भव्य भगवानसे प्रार्थना करताहै " हे भगवन् आपके प्रसादसे मुझमें उस शक्तिका विकासहो जिसमें अनंत शक्तियोंके पुंज इस आत्माको इस कृतघ्नी शरीरसे उस तरह अलग कर दूं जैसे म्यानसे तलवार अलग करली

जाती है ' शरीरसे आत्माको तभी अलग किया जासकता है जब हम पूज्य आचार्योंके वचनोंपर चलें। आचार्य वादीभ सिंहने अपने क्षत्रचूडामणिग्रन्थमें जीवंधरस्वामीकेद्वारा भाई गई बारह भावनाओंके प्रकरणमें आत्माको संबोधन करते हुए बतलाया है कि हरएक आत्महितैषीको ऐसा विचारना चाहिये।

कोऽहं कीदृग्गुणः क्वत्यः किंप्राप्य किंनिमित्तकः।
इत्यूहः प्रत्यहं नो चेदस्थाने हि मतिर्भवेत्॥

अर्थ—मैं कौन हूं, मुझमें कौन २ से गुण हैं, मैं कहां का रहने वाला हूं, मुझे क्या प्राप्त करना है, जो कुछ प्राप्त करना है उसका निमित्त कारण क्या है? इस प्रकारका तर्क प्रतिदिन न किया जायगा तो बुद्धि उन्मार्गमें चली जा सकती है।

कर्तव्य मार्गको बतलाते हुए पंडितप्रवर आशाधरजी सागार धर्मामृतमें बतलाते हैं—

ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय कृतपंचनमस्कृतिः।
कोऽहं को मम धर्मः किं प्राप्यश्चेति परामृशेत्॥

अर्थ-प्रत्येक प्राणीको ब्राह्ममुहूर्त-अर्थात् रात्रि समाप्त होनेके दो घड़ी पहिले उठकर अपने इष्टदेव पंच परमेष्ठीके वाचक पंच णमोकारमन्त्रका जाप कर ऐसा विचार करना चाहिये

कि मैं कौन हूं? मुझे इस मनुष्यभवको पाकर क्या करना है, मेरा क्या धर्म है ? ऐसा विचार नित्य करना चाहिये ऐसा विचार करनेसे मनुष्य अपने कर्तव्य मार्गसे च्युत नहीं हो कर निराकुल सुखके संमुख होता है। क्योंकि आयु थोडी होती है और कर्तव्य कर्म बहुत होता है। संपूर्ण उम्रमें तो कार्य किया नहीं जाता है । कार्य करनेके विषयमें एक विद्वानने दर्शाया है कि—

आयुष अर्ध अरु मतिमंद व्यतीत भई तव नींदमें झारी।
आर्ध त्रिभाग जरापन यौवन शैशवके वश व्यर्थ बिमारी।
आतममें दृढ धार सुधी गह ज्ञान असी मुह पास विदारी।
मुक्ति रमा रमणी वश कारण हो दृढ नित्य सु सम्यकधारी॥

अर्थ—हे आत्मन् बडे शोककी बात है कि इस शरीर में रहते हुए तेरी आधी आयु तो सोते सोते बीत जाती है बाकी आयु बालापन, बुढापा और युवावस्था ऐसी तीन विभागोंकी भिन्न २ दशाओंमें बीत जाती है-अर्थात् बालापन में अज्ञानताकी प्रधानता रहती जिससे ये अवस्था खेल कूदमें ही बीत जाती है। युवावस्था विषयोंके सेवन, अर्थार्जन, रक्षण आदिमें बीत जाती है, बुढापा-जिसमें कोई भी इन्द्रिय काम नहीं देती शरीर क्षीण होजानेसे अशक्त हो जाता है, इस अवस्थामें कुछ भी आत्महितैषी कार्य बन

नहीं सकता, अब तू खुद निश्चय कर कि मनुष्य पर्याय पाकर क्या प्राप्त किया ? इसलिये अब सचेत होकर मुक्ति रूपी स्त्रीको बसमें करनेवाले दृढ सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर जिससे अनादि कालीन अपनी भूलका मार्जन हो सके हे प्राणी जिस शरीरपर तू निछावर हो रहा है जिसके भरण पोषणमें दत्तचित्त रहता है उसके स्वरूपका तो विचार कर । कविवर भूधरदासजी अपनी जैनशतकमें बतलाते हैं कि-

मात पिता रज वीरजसौं उपजी,
मध धात कुधात भरी है।
माखिनके पर माफिक वाहिर,
चामके वेढन बेढ धरी है॥
नाहिं तो आय लगै अवही,
वक वायस जीव वचे न घरी है।
देह दसा यह दीखत भ्रात,
घिनात नहीं किन बुद्धि हरी है॥

अर्थ-हे भाई यह शरीर माता पिताके घृणित रज और वीर्यसे उत्पन्न हुवा है, इसमें हाड मांस मज्जा मेदा खून वीर्य आदि सात कुधातुएं भरी हुई हैं, ऊपरसे मक्खियोंके पर की तरहके चमडेसे घिरा हुआ है अर्थात् मढा हुआ है।

यदि.इस चमडेसे मढा हुआ न होता तो बगुले, कौए आदि जीव आकर नोंच २ कर खाजाते एक, घडीके लिये भी नहीं बच सकता था, देहकी तो ऐसी दसा है इसको देखते हुए भी तुम्हे इस देहसे घृणा नहीं होती आश्चर्य है, तुम्हारी बुद्धि किसने हरण करली है ?

कविवर बनारसीदासजी न भाषा छंदोवघ्द नाटक समयसारमें बतलाया है कि—

सुन प्राणी सदगुरु कहैं देह खेहकी खांनि।
धरै सहज दुख दोषकौ करै मोखकी हांनि ॥

अर्थ–श्रीगुरु उपदेश करते हैं– हे जीव चित्त लगाकर सुन, यह देह तो खेतकी खदान है, स्वभावसे दुख और दोषोंको धारण करने वाली होकर मोक्षसे विमुख रखने वाली है। फिर कैसी यह देह है––

रतकोसा गढी किधौ मढी है मसानकी सी,
अंदर अंधेरी जैसी कंदरा है शैलकी।
ऊपरकी चमक दमक पड भूषनकी
धोके लागै भली जैसे कली है कनैल की ॥
औगुनकी औंडि महा मोहकी कनौडि,
मायाकी मसूरति है मूरति है मैल की।
एसी देह या हि के सनेह याकी सगतिसौंहै
रही हमारी मति कोल्हू कैसे बैलकी ॥

अर्थ यह देह बालू (रेता) की गढीके समान अथवा स्मशानकी मढीके समान है, भीतर पर्वतका गुफाके समान अंधकारमय है। ऊपरकी चमक दमक तो वस्त्र और गहनोंमें हो रही है, ये तो कनैरकी कलीके समान अत्यंत दुर्गंधित है, अवगुणोसे भरी हुई है, अत्यंत खराब और कानी आंखके समान निकम्मी है, मायाकी समुदाय रूप तथा मैलकी मूर्ति है। इसहीके प्रेम और संगतिसे हमारी बुद्धि कोल्हूके बैलके समान हो रही है, जिसमें संसारमें सदा भ्रमण करना पड़ता है। फिर कहते हैं--

ठौर ठोर रकतके कुंड केसनिके झुंड,
हाडनिसौं भरी जैसे थरी है चुरैलकी।
नेकुस धकाके लगे ऐसे फट जाय मानो,
कागदकी पुरी किधौं चादरि है चैलकी॥
चे,भ्रम वांनि ठानि मूढनिसौं पहिचानि,
करै सुख हानि अरु खांनि वदफैल की।
ऐसी देह याहीके सनेह याकी संगतिसौं,
ह्वै रही हमारी मति कोल्हू कैसे बैल की॥

अर्थ-इस देहमें जगह २ रक्तके कुंड और बालोंके झुंड हैं, यह हड्डियोंसे भरी हुई है, मानों चुडेलोका निवासस्थान ही है! जरासे धकाके लगनेसे एसे फट जाती जैसे कागज-

की पुड़िया अथवा कपड़ेकी पुरानी चद्दर, यह अपने अस्थिर स्वभावको प्रगट करती है। पर मूर्ख लोग इससे स्नेह लगाते हैं, यह सुखकी घातक और बुराइयोंकी खानि है। इसहीके प्रेम और संगतिसे हमारी बुद्धि कोल्हूके बैलके समान संसारमें चक्कर लगाने वाली हो गई है। इस प्रकारके विनाबने शरीरको देखकरभी तुम्हे अपने आत्म कल्याण करनेमें रुचि क्यों नहीं होती है? और भी कहते हैं सो सुनो—सबसे पहिले मनुष्यको ऐसा चिंतवन करना चाहिये कि-य शरीरकी छाया तो अपनीही है, जब तुम अपनीही छाया पर मुग्ध होकर उसके पीछे पीछे दौडोगी तब वह छाया तुम्हारे हाथ तो न आवेगी प्रत्युत वह आगे आगे भागी ही चली जावेगी। जब तुम्हारा ये विचार हो जावेगा कि हमें इस छायासे कोई प्रयोजन नहीं है, उसका पीछा छोड कर पीछा लौटकर आने लगोगे तब वही छाया तुम्हारे पीछे पीछे स्वयमेव दौडी आवेगी। उसी तरह हम जिस समय इन पर पदार्थोंको प्राप्त करनेके लिये इनके पीछे २ दौडेगे तब ये पदार्थ हमसे दूर २ ही भागेंगे जब हम इनका पीछा छोड देंगे तो ये हमारे पीछे दौडेंगे। विचार इतना ही होना चाहिये कि हमें इन पदार्थोंके पीछे दौडने पर और इनके मिलजाने पर भी ये हमारे बनकर रह सकेंगे या नहीं? पुण्य पापके उदयानुसार ही इनका संयोग

वियोग बनता है। हमारे चाहने मात्रसे पदार्थोंका संयोग वियोग नहीं बनता है। इसलिये इनके प्राप्त करनेकी अभिलाषाही व्यर्थ है, इस फंदेमें न पड कर अपने स्वरूपके पहिचानन और उसके ग्रहण करनेमें तत्पर होना चाहिये। अये आत्मन् तुझे ये ध्यान नहीं है कि मैं और मेरा स्वरूप क्या चीज है। मैं अब तेरे स्वरूपको नीचेके छंदसे बतलाता हूं सो ध्यानमें लेकर उसका अनुभव कर—

चेतन रुप अनूप अमूरत सिद्ध समान सदा पद मेरो ।
मोह महातम आतम अंग कियो परसग महातम घेरो ॥
ज्ञानकला उपजी अब मोहि कहूं गुण आतम नाटक केरो ।
जासु प्रसाद सधे सिव मारग वेगि मिटै भववास बसेरो ॥

अर्थ—मेरा स्वरूप सदैव चैतन्य रूप उपमा रहित और निराकार सिद्धोंके समानही है, परन्तु अनादि कालसे मोहके महा अन्धकारका सम्बन्ध होनेसे अन्धा बन रहा था। अब मुझे ज्ञानकी ज्योति प्रकट हुई है इसलिये आत्माके नाटककी आख्या गुणोंके रूपमें कहता हूं, जिसके प्रसादसे मोक्ष मार्गकी सिद्धि हो और जल्दीसे जल्दी संसारका निवास अर्थात जन्म मरणका संबंध छूटं जाय ।

भाव ये हैं कि हरएक आत्माको ऐसा विचार करना चाहिये कि द्रव्यदृष्टिसे देखा जाय तो मेरा रूप तो शुद्ध

चैतन्यरूप चिच्चमत्कार मात्र है, सिद्धोंके समान है, तीन लोकमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसकी उपमा आत्माके स्वरूपसे दी जा सकती हो, इसको अनादि कालसे संबंधित मोह ने घेर रक्खा है जिसमें विह्वल होकर अपने रूपको भूल गया है लेकिन अब मेरी ग्यान कला जाग्रित हो चुकी है इसलिये अब मैंने समझ लिया कि आत्मा और परमात्मामें यदि भेद है तो इतनाही कि सामान्य रूपसे आत्मा शब्द तो संसारी जीव के लिये प्रयुक्त होता है जो सब तरहके कर्मोमे लिप्त रहता है और परमात्मा उस आत्मा को कहते हैं जो कर्म कालिमासे रहित होकर निज शुद्ध स्वरूपमें अवस्थित है। वास्तवमें स्वरूपकी दृष्टिसे दोनोंमें कोई फरक नहीं है ।

एक विद्वानने कहा है कि— संसारी और मुक्तमें इतना ही भेद है कि-

जगतके निवासी जग हीमें रति मानत है,
मोक्षके निवासी मोक्षहीमें ठहराये है ।
जगतके निवासी काल पाय मक्षी पावत है,
मोक्षके निवासी कभी जगमें न आये हैं ॥
ये तो जगवासी दुखवासी सुखराशि नाहिं,
व तो सुखरासी जिनवाणीमें बतलाये हैं ।

तातै जगवासतैं उदास होय चिदानद,
रत्नत्रय पथ चले तेई सिव गये है ॥

अर्थ—जो जीव संसार मार्गमें चलते हुए साताकर्मके उदयसे थोडासा सुखाभासका अनुभव करते हैं वे संसारमें रहनेसे ही आनंद मानते हुए संसारी है परन्तु जो जीव समस्त कर्मोकी शृंखलाको काटकर हमेशाको मोक्षमें रहने वाले हैं वे (जीव हैं। ससारी जीव काललब्धिका निमित्त पाकर कर्मोंको नाशकर मोक्ष प्राप्त करते हैं परन्तु अनतानत काल बितने पर भी मोक्षके जीव कभी भी संसारमें नहीं आते हैं। ससारी जीव तो दुखमें ही निवास करते हैं इनको जराभी सुख नहीं मिलता है यदि पुण्य कर्म क उदयसे थोडासा ऐन्द्रियिक सुख मिल भी जाता है तो वह स्थिर नहीं होता है प्रत्युत उसका उदर्क उत्तापकारी ही होता है, परन्तु मोक्षके स्वशुद्ध स्वरूपानुभवी जीव सुखही सुखका अनुभव करते हैं ऐसा जिन वाणीमें बतलाया गया है। इस लिये हे आत्मन् संसारसे उदास होकर जो जीव रत्नत्रयकी प्राप्तिके मार्गमें चलते है, वे नियमसे मोक्ष प्राप्त करते है। तू भी ऐसा ही कर।

रत्नत्रय आत्माका निज स्वभाव है, अनादिकालसे सत्ता रूपमें आत्मामें मौजूद है मोक्षप्राप्त जीवोंके विरोधी

तत्त्वके विलग होजानेसे व्यक्त हो चुका और संसारी जीव में विरोधी तत्त्वने आवृत कर रक्खा है इससे शक्ति रूपमें ही पाया जाता है। आचार्योंने रत्न त्रयको दो तरहसे बतलाया है—एक व्यवहार रत्नत्रय, दूसरा निश्चय रत्नत्रय। व्यवहार रत्नत्रयका स्वरूप इस तरह वर्णन किया है—

जीवादी सद्दहणं सम्मतं तेसिमधिगमो णाणं ।
रायादीपरिहरणं चारित्त एस मोक्खपहो ॥

अर्थ—जीवादि सात तत्त्वोंका ऐसा श्रद्धान करना कि भगवान जिनेन्द्रने जीवादि सात तत्त्वोंका जैसा स्वरूप कहा है वह तो उसी तरह है, अन्य नहीं है, अन्य प्रकार भी नहीं है इसको व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं। इन्हीं जीवादि तत्त्वोंका संसय विपर्यय और अनध्यवसाय रहित ज्ञान करना सम्यग्ज्ञान है और इन सारे पदार्थोंसे राग द्वेश का परिहार करना अथवा आत्मामें से हिंसादि परिणतिका बुद्धि पूर्वक त्याग करना व्यवहार सम्यक्चरित्र है और इन तीनो रूप परिणति व्यवहार मोक्षमार्ग है। यही व्यवहार मोक्ष मार्ग निश्चय मोक्षमार्गका कारण होता है। जैसाकि दौलतरामजीने अपने छहढालेमें लिखा है—

सब द्रव्यनितें भिन्न आपमें रुचि सम्यक्त्व भला है ।
आप रुपको जानपनों सो सम्यकज्ञान कला है ॥

आप रूपमें लीन रहे थिर सम्यक्चारित सोई।
अब विवहार मोखमग सुनिये हेतु नियतको होई ॥

अर्थ–द्रव्य छह प्रकारके होते हैं–(१)जीव (२)पुद्गल (३)धर्म (४)अधर्म (५)आकाश और (६)काल। जीव दो तरहका माना गया है (१ स्वजीव (२) परजीव । निजात्मा ही स्वजीव जानना चाहिये और अरहन्त आदि पर जीव जानना चाहिये ॥ १ ॥ रूप, रस, गंध, स्पर्श गुणवाला पुद्गलद्रव्य जानना चाहिये। ये द्रव्य परमाणु और स्कन्ध रूपसे दो तरहका बतलाया गया हैं। शुद्ध पुद्गलद्रव्य परमाणु ही होता है। परमाणुओंके मेलसे स्कन्धकी उत्पत्ति होती है। सारे संसारके दृश्यमान पदार्थ स्कन्धके ही परिणमन रूप हैं ॥२॥ अदृश्यमान एक ऐसा पदार्थ लोकमें है जिसकी सहायतासे जीव और पुद्गल एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें आ जा सकते हैं उसे धर्मद्रव्य कहते हैं॥ ॥३॥एवं एक ऐसा और भी पदार्थ मौजूद है जिसकी सहायतासे चलते हुए जीव पुद्गल ठहर सकते हैं उसे अधर्मद्रव्य कहते हैं ॥४॥ संपूर्ण द्रव्योंको स्थान देने वाला द्रव्य आकाश कहलाता है ॥५॥ हरएक द्रव्यकी एक अवस्थासे दूसरी अवस्था रूप परिणति होनेको कारणभूत द्रव्य कालद्रव्य कहलाता है ॥६॥

ऊपर बतलाया गया है कि ये जीव भ्रम भावमें डूब रहा है इसीसे मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति नहीं करता है। इसी भाव को लेकर एक विद्वानका कहना है कि—

याही जग माहि चिदानन्द आप डोलत है,
भरम भाव धरैं हरैं आतम सकतिकों।
अष्टकर्म रूप जे जे पुद्गलके परिनाम,
तिनकौ सरूप मानि मानत सुमतकौं॥
जाही समय मिथ्यामोह अन्धकार नासि गयौ,
भयौ परगासमान चेतनके ततकौं।
ताही समै जानौ आप आप पर पर रूप
मानि भव भावरि निवास मोख गतकौं॥

अर्थ—इस संसारमें यह चिदानन्दरूप जीव भ्रम भाव धारणकर चारों गतियोंमें भ्रमण करता है जिससे अपनी शक्तिका नाश करता है, आठ कर्मरूप जो जो पुद्गलके परिणाम (पर्याय) हैं उनको अपना स्वरूप जानता है उससे अपनी सुमतिको नष्ट करता है। जिस समय इस जीवका मिथ्यात्वरूपी मोहान्धकार नष्ट होजाता है उसी समय चेतनके विस्तार (फैलाव) का प्रकाश करता है जिससे आत्मा आपको आपरूप और परको पररूप जानकर संसार में भ्रमणको दूरकर मोक्षमें निवास करने लगता है।

अभीतक इस जीवने अपने स्वभावकी पहिचान नहीं की है यदि ये अपने स्वभावको पहिचान जाय तो फिर इसका चतुर्गत्यात्मक परिभ्रमण अपने आप शांत होजावे। जीवका स्वभाव क्या है ? और इसने किसको भ्रमसे अपना स्वभाव मान लिया ? तथा इसको अपने स्वभावकी पहिचान होनेपर क्या लाभ होता है ? आदि भाव निम्नलिखित छन्द में बतलाया है —

रागदोस मोह भाव जीवको सुभाव नांहि,
जंवको सुभाव सुद्ध चेतन बखानिये।
दर्वं कर्म रूप ते तो भिन्न ही विराजत हैं,
तिनको मिलाप कहो कैसे करि मानिये॥
ऐसो भेद ज्ञान जाके हिरदे प्रगट भयो,
अमल अबाधित अखण्ड परमानिये।
सोई सुविक्षण मुकत भयो तिहुंकाल,
जानों निज चाल पर चाल भूलि भानिये॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तूं इस बातका निश्चय कर कि रागद्वेष मोहरूप भाव जीवके स्वभाव नहीं हैं क्योंकि ये भाव तो मोहनीय कर्मजन्य विभाव भाव हैं, पर निमित्त जन्य होनेसे नश्वर हैं। जीवका स्वभाव तो शुद्ध चैतन्य रूप है। जो ऐसा कहा जाता है कि कर्म जीवके साथ मिला हुआ है सो ऐसा कहना भी मिथ्या है, क्योंकि द्रव्य

कर्म तो आत्मासे बिलकुल भिन्नरूप हैं, जड हैं, आत्माका स्वभाव चैतन्यरूप है, फिर उनका मेल आत्माके साथ कैसे माना जा सकता है? ऐसा भेदविज्ञान जिसकी आत्मामें व्यक्त होजाता है वह तो निरंजन है, बाधारहित अखण्ड ही प्रमाणमें आता है। ऐसा भेदज्ञानी आत्मा तीनों काल मुक्त है क्योंकि उसने अपने स्वरूपकी पहिचान की है और परस्वरूपका त्याग किया है।

पदार्थका विचार दो दृष्टियोंसे करना चाहिये-एक द्रव्यदृष्टिसे और दूसरा पर्याय दृष्टि से। द्रव्यदृष्टि तो पदार्थके खास स्वभावकी परिचायक होती है, उसमें दूसरे पदार्थोंके स्वभावके मेल मिलापकी आवश्यकता ही नहीं रहती, पर्यायदृष्टि परके निमित्तसे होने वाली अवस्थाकी मुख्यताका वर्णन करती है, सो जैसा वह वर्णन करती है वैसा वस्तुका स्वभाव नहीं होता, स्वभाव तो ध्रुव होता है, पर्यायें नश्वर होती हैं। हमने अनादि-कालसे अभीतक अपने रूपकी पहिचान नहीं की है क्योंकि मोहकर्मके सम्बन्धसे अपनेको पररूप ही समझा है। मैं काला हूँ, गौरवर्ण हूँ, मूर्ख हूँ, पंडित हूँ आदि अवस्थाओंको ही आत्मा माना, ये नहीं जाना कि काला, गौरा आदि तो पुद्गलकी दशाएं हैं सो इनका सम्बन्ध तो पुद्गलके साथ है मैं तो चैतन्य ज्योतिरूप हूं फिर पुद्गलरूप कैसे होसकता हूं?

आत्माको आत्मा न मानते हुए परको आत्मा मानना ही मिथ्यात्व है। मिथ्यात्वके वशमें रहनेवाला प्राणी दीर्घ संसारी होता है। मिथ्यादृष्टी जीव ही ऐसा निश्चय करता है कि मैं सुखी हूं, दुखी हू, राजा हू, रंक हू, मेरा जन्म होता है, मरण होता है, मेरे पुत्र हैं, स्त्री है, कुटुम्ब है, मां बाप भाई बन्धु आदि मेरे हैं, मैं इनका हू, वे मेरे रक्षक हैं, मैं इनका रक्षक हूं, मैं इनको जिन्दा रखता हू, ये मुझे जिन्दा रखते हैं इत्यादि। मिथ्यादृष्टी जीव संसारकी परिस्थितिको देखता हुआ भी अन्धा बना रहता है, उसको थोडा भी विवेक करनेका अवसर नहीं मिलता कि वस्तुके रूपका विचार तो करे, दरअसलमें देखा जाय तो संसारमें कोई किसीका नहीं है। श्री पूज्यपादस्वामीने इष्टोपदेशमें कहा है —

वपुर्गृहं धनं दारा पुत्रमित्राणि शत्रवः।
सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते॥

अर्थ—शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र, शत्रु सर्वथा मेरे स्वभावसे भिन्न स्वभाववाले हैं, परन्तु अज्ञानी मिथ्या दृष्टी जीव इनको अपने ही मानता है। यही तो मिथ्यात्वोदयकी विशेषता है। एक विद्वान कविने बतलाया है—

दोहा-केश पलटि पलटया वपू ना पलटी मन बांक।
बुझे न जरती झोंपडी ते जर चुके निशान॥

निस्य आयु तेरी झरै धन पैले मिलि खांय ।
तूं तो रीता ही रह्या हाथ झुलाता जाय ॥

अरे जीव भव वन विषैं तेरा कौन सहाय ।
काल सिंह पकरे तुझे तब को लेत बचाय ॥

को है सुत को है तिया काको धन परिवार ।
आकर मिले सराय ज्यौं बिछुरैंगे निरधार ॥

बहुत गई थोडी रही उरमें करो विचार ।
अबके भूले डूबना आगइ नाव किनार ॥

झूठा सुत झूठी त्रिया है ठगसा परिवार ।
खोंस लेत हैं ज्ञानधन मीठे बोल उचार ॥

आयु कटै है रैन दिन ज्यौं करौंत तें काठ ।
हित अपना जलदी करौ पड्या रहेगा ठाठ ॥

विमनि भोग भोगत रहै किया न पुण्य उपाय ।
गांठ खाय रीते चले मनुज जन्ममें आय ॥

देह धारि बचिया नहीं सोच न करिये भ्रात ।
तन तो तजियो केवली औरनकी का बात ॥

कित्ता दिन बीता तुझे करता क्यौं न विचार ।
काल गहेगा आयकर सुनि है कौन पुकार ॥

या दीरघ संसारमें मुआ अनन्ती बार ।
भेद ज्ञान लेकर मरै होजावे भव पार ॥

आसी सो जासी सही कीनी जगमें प्रीति ।
देखी सुनी सु आचरी अथिर अनादी रीति ॥
ममता समताकी करो निज घट मांहि पिछान ।
बुरी तजो अच्छी भजो हो तुमरो कल्याण ॥
जाकी संगति दुख लहै ताकी चलै न गैल ।
तो तुमको कहिये कहा ज्यों के त्यों तुम बैल॥
यातैं अब ऐसी गहो श्रद्धा दृष्टि अपार ।
याद करत तुष माषको उतर गये भव पार ॥
आपा पर श्रद्धा विना मधुपिंगल मुनिराज ।
तप खोयो वोयो जनम रोयो नरक मझार ॥
अति गम्भीर संसार है बहुत ही अगम अपार ।
सम्यग्ज्ञान जहाज चढि ते उतरे भव पार ॥
संसारीके देख दुख सतगुरु दीन दयाल ।
सीख देत जो मानले सो ही होत खुशाल ॥

आत्म-हितैषी सच्चे गुरुकी ये शिक्षा ऐसे जीवोंके लिये है जो भद्र परिणामी होते हुए सम्यक्त्वके सन्मुख होरहे हों। वास्तवमें देखा जाय तो तीन लोकके जीवोंका सच्चा दुश्मन यदि कोई हो सकता है तो एक मिथ्यात्व ही हो सकता है जबतक कि मिथ्यात्व कर्मका उदय रहता है मोक्षका प्रधान अंग सम्यग्दर्शन हो नहीं सकता है ।

अब यहां प्रकरणवश संक्षेपमें मिथ्यात्वका स्वरूप, उस के भेद और उसका फल बतलाया जाता है—

मोहनीय कर्मके दो भेद होते हैं (१) दर्शनमोह (२) चारित्रमोह। दर्शनमोह आत्माके सम्यक्त्व गुणका घातक (आच्छादक) होता है। चारित्रमोह-आत्माके आचरण रूप चारित्रका घातक होता है। दर्शनमोहके मिथ्यात्व-सम्यङ्मिथ्यात्व-सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व ऐसे तीन भेद होते हैं इनमेंसे जीवको जब मिथ्यात्वकर्मका उदय होता है तब सर्वज्ञ भाषित तत्वोंका ठीक २ विश्वास नहीं होने पाता है। ऐसे मिथ्यात्वके पंडित प्रवर आशाधरजीने तीन भेद बतलाये हैं यथा—

केषाञ्चिदन्धतमसायतेऽगृहीतं ग्रहायतेऽन्येषाम्।
मिथ्यात्वमिह गृहीतं शल्यति सांशयिकमपरेषाम्॥

अर्थात्-मिथ्यात्व तीन प्रकारका होता है-अगृहीत गृहीत और सांशयिक।

अनादिकालसे पुनःपुनः चला आया तत्वविषयक अरुचि रूप आत्माका परिणाम अगृहीत मिथ्यात्व कहा जाता है। यह मिथ्यात्व दूसरोंके उपदेशके बिना होता है इसलिये इनको अगृहीत कहते हैं।

दूसरोंके उपदेशसे प्राप्त होने वाला अतत्व श्रद्धान रूप बुद्धिका विकार गृहीत मिथ्यात्व कहलाता है।

मिथ्यात्व कर्मके उदयके साथ २ ज्ञानावरणी कर्मके उदयसे 'जिनेन्द्र भगवानके द्वारा भाषित तत्व उसीप्रकार हैं या नहीं" इस प्रकारके अज्ञानजन्य परिणामोंसे आत्मा में चचलता पैदा होजानेको संशय मिथ्यात्व कहते हैं। इस संसारमें अगृहीत मिथ्यात्व घोर अज्ञान अवस्थामें एकेन्द्रियसे संज्ञी पंचेंद्रिय पर्यंतके सभी जीवोंके गाढ अंधकार सरीखा महान दुख देनेवाला होता है। दूसरा गृहीत मिथ्यात्व संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंके भूतसे गृहीत व्यक्तिके समान दुख देनेवाला होता है। तीसरा संशयमिथ्यात्व श्वेतांबर मतावलंबी इन्द्राचार्य सरीखोंको हृदयमें चुभी हुई शल्य (शंकु) के समान दुख देनेवाला होता है।

मिथ्यात्वके पांच भेद भी बतलाये गये हैं—विपरीत एकांत, विनय, संशय, और अज्ञान।

केवली कवलाहारी हैं, स्त्रीकी मुक्ति होती है इत्यादि अभिनिवेश (अभिप्राय) को विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं।

सर्व पदार्थ क्षणिक ही हैं, जीव सदा मुक्त ही है इत्यादि रूप परिणामको एकांत मिथ्यात्व कहते हैं।

सब देव, सब धर्म, सब [illegible] हैं, सबकी विनय करनेमें समान फल होता है ऐसे अभिप्रायको विनय मिथ्यात्व कहते हैं।

संशय मिथ्यात्वका स्वरूप ऊपर बतलाया जाचुका है।

हिताहितका विवेक किये बिना प्रवृत्ति करना अज्ञान मिथ्यात्व है।

इस तरहसे मिथ्यात्वके संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद बतलाये गये हैं। एक विद्वान्ने कहा है—

असंख्यात लोक परमान जे मिथ्यात भाव।
तेई व्यवहार भाव केवलि उकत हैं॥

अर्थात्—भगवान केवलीने कहा है कि लोकाकाशके जितने प्रदेश होते हैं व्यवहारनयसे उतने ही मिथ्यात्व भावके अध्यवसाय होते हैं।

तीन लोकके जीवोंको जो दैहिक, मानसिक और आगन्तुक आदि दुःख होते हैं उनका प्रधान हेतु मिथ्यात्व ही है। मिथ्यात्वसे अनन्त संसार फलता है।

ऊपर बतलाया गया है कि मिथ्यादृष्टी जीव विवेक रहित होता है उसको अतत्व श्रद्धान होता है। उसकी प्रवृत्तिके विषयमें भाषा छन्दोबद्ध नाटक समयसारमें कहा गया है—

धरम न जानत बखानत भरमरूप, ठौर ठौर ठानत लराई पक्षपातकी।
भूल्यौ अभिमानमें न पांव धरै धरनी पै, हिरदैमे करनी विचारै उत्पातकी॥
फिरै डवाडोलसौ करमके कलोलनिमें,
ह्वै रही अवस्था ज्यौं बघूले कैसे पातकी।

जाको छाती ताती कारी कुटिल कुवाती भारी,
ऐसो ब्रह्मघाती है मिथ्याती महा पातकी ॥

अर्थ—जो मिथ्यादृष्टी जीव वस्तुके स्वभावके ज्ञानसे अनभिज्ञ है, जिसका कथन मिथ्यात्वका ही पुष्ट करनेवाला होता है, एकांतका पक्ष लेकर जगह जगह लडाई करता है, अपने मिथ्याज्ञानके अहंकारमें धरतीपर पांव नहीं टिकाता है, चित्तमें उपद्रव ही उपद्रव करना सोचता है, कर्मके झंकोरोंसे संसारमें डांवाडोल हुवा फिरता है अर्थात् कभी विश्राम नहीं पाता, सो ऐसी दशा होरही है जैसे वघरूढे में पत्ता उडता फिरता है। जो हृदयमें क्रोधसे तप्त रहता है, लोभसे मलीन रहता है, मायासे कुटिल होता है, मान से खोटे २ बोल बोलता है ऐसा आत्मघाती, महापापी मिथ्यादृष्टी होता है। अभिमानसे क्या २ कहता है सो सुनिये—

चौ.—मैं करता मैं कीन्ही कैसी, अब यौं करौं कहै जो ऐसी।
ए विपरीत भाव हैं जामें, सौ वरतै मिथ्यात्व दशामें॥

अर्थ—मैं करता हूं, मैंने यह कैसा काम किया (जो दूसरोंसे नहीं बन सकता है) अब भी मैं जैसा कहता हूं वैसा ही करूंगा, जिसमें ऐसे अहंकाररूप विपरीतभाव होते हैं वह मिथ्यादृष्टी होता है। और भी कहा है—

अहं बुद्धि मिथ्यादशा धरै सो मिथ्यावन्त।
विकल भयौ संसारमें करै विलाप अनन्त॥

अर्थ—मिथ्यात्व जन्य अहंकार मिथ्यात्व है, ऐसा भाव जिस जीवमें होता है वह मिथ्यात्वी कहा जाता है। मिथ्यादृष्टी संसारमें दुखी होता हुआ भटकता है और अनेक प्रकारके विलाप करता है॥ एक ग्रन्थमें ज्ञाता और मिथ्यादृष्टीका स्वरूप वर्णन करते हुए लिखा है—

मिथ्यादृष्टी जीव आपको रागी मानै।
मिथ्यादृष्टी जीव आपको द्वेषी जानै॥
मिथ्यादृष्टी जीव आपको रोगी देखै।
मिथ्यादृष्टी जीव आपको भोगी पेखै॥
जो मिथ्यादृष्टी जीव सो सुद्धातम नांहि लहै।
सोई ज्ञाता जो आपको जैसा का तैसा गहै॥

अर्थ—पदार्थके स्वरूपका ठीक ठीक ज्ञान नहीं रखने वाला मिथ्यादृष्टी जीव अपने आपको रागी, द्वेषी, रोगी और भोगी मानता है, वह मिथ्यात्व दशामें किसी समय अपने शुद्ध आत्माको नहीं प्राप्त कर सकता है। सम्यग्दृष्टि ही आत्माके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण कर सकता है।

मिथ्यात्वका अचिन्त्य प्रभाव है इसके प्रतापसे ही जीवको सागरों पर्यंत या असंख्यातकाल तक नरक तिर्यंच

गतिके दुख उठाने पडते हैं। आज हम जितने दीन, दुखी, दरिद्री, रोगी, शोकी, आततायी, रागी, द्वेषी, क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, मत्सरी, आर्त रौद्र परिणामी जीवों को देखं रहे हैं वे सब मिथ्यात्वके प्रभावसे ही ऐसे हैं। ऐसे जीव बारम्बार नवीन २ भयंकर कर्मोका बन्धन कर अपनी संसार परिपाटीका अन्त नहीं कर सकते। संसारमें तबतक इस जीवको रहना ही पडता है जबतक इस मिथ्यात्व का संसर्ग बना रहता है। इसलिये तत्वज्ञानके अभिलाषियों को श्रीगुरु यही उपदेश देते हैं कि अये भव्यात्माओ अपने शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति करना चाहते हो या अनन्त सुख शांति चाहते हो तो इस दुष्ट पिशाच रूप महामोहका त्याग करो।

मिथ्यात्वके त्याग करते ही आत्माके सारभूत सम्यक्त्व गुणका विकाश होजाता है और सम्यक्त्वके प्रादुर्भूत होते ही आत्मामें ज्ञानावरणी कर्मके क्षयोपशमके अनुसार यथार्थ ज्ञान होजाता है जिससे सर्वज्ञ भाषित पदार्थोंकी ठीक २ जानकारी पूर्वक ठीक २. तत्व प्रतीति होने लगती है। यदि सच्ची प्रतीति और सच्ची जानकारी होने लगती है तो संसार शरीर और इन्द्रियोंके विषयोंसे उदासीनता पूर्वक सदाचरण भी होने लगेगा। जिससे निकट भविष्यमें संसारका अन्त भी होजावेगा।

सम्यक्त्व आत्मामें पैदा नहीं किया जाता है वह तो आत्माका निजी गुण है। वह विरोधी कर्मके द्वारा आवृत्त होरहा है। आत्मा अपने पुरुषार्थसे जब सम्यक्त्व विरोधी मिथ्यात्वका अभाव कर डालता है तब इस गुणका अपने आप विकाश होजाता है। एक वक्त थोडे समयके लिये भी ये सम्यक्त्व गुण व्यक्त होजाता है तो विश्वास होजाता है कि एसे जीवका संसारका निकट आगया। अतएव हरएक आत्मा को सम्यक्त्वके व्यक्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

सम्यग्दृष्टि जीव तत्त्वोंका श्रद्धानी होता है उसको सर्वज्ञ भाषित तत्त्वोंमें जरा भी संदेह नहीं रहता है उसका दृढ़ विश्वास एसा होता है कि--

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथा वादिनो जिनाः।

अर्थ-भगवान जिनेन्द्र द्वारा भाषित तत्त्व अत्यंत सूक्ष्म है उनका खंडन किसी भी हेतुसे नहीं हो सकता है। उन्होंने आत्मामे विकार पैदा करने वाले राग द्वेषका उन्मूलन किया है, अत एव उनकी प्रतिपादन शैली रागद्वेष रहित होनेसे निष्पक्षपात होती है। वे पूर्णज्ञानी होते हैं और हमारा ज्ञान क्षयोपशमके अनुसार होता है इसलिये सूक्ष्म तत्त्वोंको यथावत समझनेकी शक्ति हममें न होनेपर भी उनकी आत्मा

समझकर ही तत्वोंको ग्रहण करना चाहिये और ऐसा दृढ विश्वास रखना चाहिये कि भगवान जिनेन्द्र अन्यथावादी नहीं होते हैं।

कभी २ बुद्धिकी मन्दतासे गुरुकी आज्ञा समझकर अतत्वका तत्वरूपसे श्रद्धान कर लेनेपर भी उसके सम्यक्त्व में बाधा नहीं आती है, इसी बातको पंचसंग्रहमें बतलाया है कि—

सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा॥
सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि।
सो चेव हवदि मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदि॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव सर्वज्ञदेव द्वारा प्रतिपादित तत्वोंका यथार्थ श्रद्धान करता है परन्तु कभी अज्ञानी गुरुके उपदेशको सर्वज्ञका ही उपदेश समझकर अतत्वका भी तत्व रूपसे श्रद्धान कर लेता है तो भी उसका सम्यक्त्व भ्रष्ट नहीं होता है। यदि कोई भी विद्वान सूत्रके प्रमाणसे उस के श्रद्धेय तत्वका उल्टापन सिद्ध करके बतला देता है कि तुमने जैसा श्रद्धान कर रक्खा है तत्व वैसा नहीं है, किन्तु देखो शास्त्रमें तो ऐसा कहा गया है। ऐसा बतलाने पर भी कदाग्रहवश वह उसको स्वीकार न करे तो उसी समयसे वह मिथ्यादृष्टि होजाता है। ऐसा निश्चय करना चाहिये।

आत्माके उद्धार करनेकी इच्छा करनेवाले भव्यजीव को सम्यक्त्वकी उद्‌भूति अपनी आत्मामें जरूर करनी चाहिये। तीन तरहका सम्यक्त्व होता है (१) उपशम सम्यक्त्व (२) क्षयोपशम सम्यक्त्व (३) क्षायिक सम्यक्त्व। इनमेंसे यदि क्षायिक सम्यक्त्व होजावे तो इस आत्माको ज्यादासे ज्यादा चार भव ही धारण करने पडते हैं जैसा कि कहा गया है —

दंसणमोहे खविदे सिज्झदि एकेव तदियतुरियभवे।
णदिकदि तुरियभवं ण विणस्सदि सेससम्मं वा॥

अर्थ - दर्शनमोह (मिथ्यात्व) के क्षय होने पर उसी भवमें या तीसरे चौथे भवमें भव्यजीव सिद्धपदको प्राप्त कर लेता है, चौथे भवका उल्लंघन तो किसी प्रकार भी नहीं कर सकता है। भाव ये है कि क्षायिक सम्यग्दर्शन होनेपर या तो उसी भवमें जीव सिद्धपदको प्राप्त हो जाता है, या देवायुका बंध हो गया हो तो तीसरे भवमें सिद्ध होता है यदि सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके पहिले मिथ्यात्व अवस्था में मनुष्य या तिर्यंच गतिका बंध किया होगा तो चौथे भवमें सिद्ध हो जाता है। लेकिन चौथे भवका अतिक्रमण नहीं करता है। यह सम्यक्त्व साद्यनन्त होता है। यह क्षायिक सम्यक्त्व इतना मजबूत होता है कि तर्क तथा आगमसे विरुद्ध श्रद्धानको भ्रष्ट करने वाला वचन या हेतु उसको भ्रष्ट नहीं कर सकता।

तथा वह भयोत्पादक आकार या घृणोत्पादक पदार्थोंको देखकर भी भृष्ट नहीं होता है। यदि कभी तीन लोक इकट्ठे होकर उसको अपने श्रद्धानसे पतित करना चाहें तो भी क्षायिक सम्यग्दृष्टि अपने श्रद्धानसे पतित नहीं हो सकता।

प्रश्न—क्षायिक सम्यक्त्व किसके कहां पर. उत्पन्न होता है?

उत्तर—दर्शनमोहनीय कर्मके क्षय होनेका प्रारंभ तो केवलीके मूलमें कर्मभूमिमें उत्पन्न होने वाला मनुष्य ही करता है, लेकिन समाप्ति (निष्ठापन) सर्वत्र हो सकती है।

प्रश्न—क्षायोपशमिक या वेदक सम्यक्त्वका स्वरूप समझाइये?

उत्तर—दर्शनमोहनीयके जो तीन भेद होते हैं उनमें से मिथ्यात्व और मिश्रमिथ्यात्व इन दोनों प्रकृतियोंके साथ अनंतानुवन्धी चतुष्कका सर्वथा क्षय या उदयाभावी क्षय और उपशम हो चुकने पर तथा सम्यक्त्वप्रकृतिके उदय होने पर जो पदार्थोंका श्रद्धानं होता है उसीको वेदकसम्यक्त्व कहते हैं। यहां पर सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे चल मल और अगाढ दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इन तीनोंका लक्षण ग्रंथांतरसे जानना चाहिये।

प्रश्न—उपशम सम्यक्त्वका स्वरूप और उसका वर्णन कीजिये?

उत्तर—ऊपर कहीं हुई सातों प्रकृतियोंके उपशम होने से जो पदार्थोंका श्रद्धान होता है उसे उपशम सम्यक्त्व कहते हैं। उपशमसम्यक्त्व और क्षायिकसम्यक्त्व विशुद्धि (निर्मलता) की अपेक्षा समान होते हैं क्योंकि विरोधी कर्मो का उदय दोनों जगह नहीं होता है। विशेषता इतनी ही रहती है कि क्षायिकसम्यक्त्वके विरोधी कर्मका अत्यन्त अभाव हो जाता है और उपशमसम्यक्त्वमें विरोधी कर्म दब जाता है नष्ट नहीं होता है। जैसे किसी गंधे जलमें निर्मली आदिसे ऊपरसे निर्मलता होने पर भी नीचे कीचड जमी रहती है, किसी जलके नीचे कीचड नहीं रहती है। दोनों जल निर्मलताकी अपेक्षा समान हैं पर कीचडके रहने न रहने की अपेक्षा भेद होता है।

पांच लब्धियोंमें से करण लब्धिके होने पर सम्यक्त्व या चारित्र नियमसे होता है। सम्यक्त्व ग्रहण करनेके योग्य सामग्रीकी प्राप्ति होनेको लब्धि कहते हैं। उसके पाँच प्रकार हैं। सम्यक्त्व होने के योग्य कर्मोंके क्षयोपशम होनेको क्षायोपशमिक लब्धि कहते हैं। निर्मलताकी विशेषताको विशुद्धि कहते हैं। योग्य उपदेशकके उपदेशको देशना कहते हैं। पंचेंद्रियादि स्वरूप योग्यताके मिलनेको प्रायोग्यलब्धि कहते हैं। अध करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरणके परिणामोंको करणलब्धि कहते हैं इन तीनों कर-

णोंका स्वरूप निर्जरा सारसे जानना चाहिये। इन पांच लब्धियोंमें से आदिकी चार लब्धियां तो सामान्य हैं, क्योंकि ये लब्धियां भव्य अभव्य दोनोंको हो सकती हैं, पर करण लब्धिकी ही विशेषता होती है। ये लब्धि भव्यके ही होती हैं और सम्यकत्व या चारित्रकी संमुखता होने पर ही होती है अर्थात् करणलब्धिके होने पर नियमसे सम्यक्त्व या चारित्र होता है। जो जीव चारों गतियोंमें से किसी एक गतिका धारक, भव्य, संज्ञी, पर्याप्तक, विशुद्धितायुक्त, जागृत, उपयोगयुक्त और शुभलेश्याका धारक होकर करणलब्धि रूप परिणामोंका धारक होता है वह जीव उपशम सम्यकत्व को प्राप्त करता है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन कितनी तरहसे हो सकता है?

उत्तर—सामान्यतया सम्यग्दर्शन दो तरह से हो सकता है (१) पूर्व जन्ममें गुरु आदिके द्वारा उपदेशादि सुनने पर भी उस समय तत्वार्थ श्रद्धान नहीं हुआ हो पर जन्मान्तर में उस संस्कारके बलसे बिना दूसरेके उपदेशादिकी सहायता के जो सम्यग्दर्शन होता है उसको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं। (२) देव शास्त्र गुरू तथा उपदेशादिके निमित्तसे जो तत्वार्थश्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन होता है उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यग्दर्शनका विशेष माहात्म्य जानना हो तो रत्नकरण्ड श्रावकाचार या निर्जरासारक

स्वाध्याय करना चाहिये।

अनादिकालसे आत्माके साथ तमाम कर्म दूध पानीके मेलकी तरह एकमेक हो रहे हैं, उनके संबंधसे ही आत्मा अपने स्वभावको नहीं पहचान सका है। जब प्रयत्न करके सम्यक्त्वका प्रादुर्भाव करता है तब भेद विज्ञान नामका ज्ञान उत्पन्न होता है जिससे ही आत्मा आपको और कर्मको भिन्न २ जानता है।

भेदज्ञान किसे कहते हैं?—

भेदो विधीयते येन चेतनादेहकर्मणोः।
तज्जातविक्रियादीनां भेदज्ञानं तदुच्यते॥

अर्थ—जिसके द्वारा आत्मासे देह और कर्मका तथा देह और कर्मसे उत्पन्न हुई विक्रियाओंका भेद जाना जाता है उसे भेद विज्ञान कहते हैं।

मोहकर्मके निमित्तसे पर पदार्थोंमें निजत्व बुद्धि धारण की, उनको ही अपना माना, पर अपने स्वरूपकी पहिचान कभी नहीं की, मैं कौन हूं, मेरे गुण क्या हैं, मुझे क्या प्राप्त करना है. और वह कैसे प्राप्त हो सकता है" इत्यादि रूपका विचार कभी हुवा ही नहीं हैं, ऐसा विचार तो सम्यक्त्व पूर्वक होने वाले भेदज्ञानसे ही हो सकता है। भेदज्ञानी विचार करता है कि मैं न मनुष्य हूं, न देव हूं, न गौर हूं न काला, रंक, राजा, आदि भी नहीं हूं ये तो पुद्गल

के संसर्गसे होने वाली पर्याय हैं, मैं तो शुद्ध चैतन्यका पिंड हूं, अपने स्वरूपमें ही सदा अवस्थित हू, मेरी निधि मेरे पास है, वह किसी रूपमें मुझसे अलग नहीं की जा सकती हैं। वह तो छाया की नाई सदा मेरे साथ रहने वाली है" बडे २ तपस्वी और श्रुतज्ञानियों ने भी बिना भेदज्ञानके शुद्ध चिद्रूप की प्राप्ति नहीं कर पाई, जिसने भी शुद्ध चिद्रूप की प्राप्ति की उसने बिना भेदज्ञानके नहींकी है। जिस प्रकार अग्नि बडे भारी ईंधनके समूहको देखते २ भस्म कर डालती है उसी प्रकार भेद विज्ञानी तमाम कर्म समूह को क्षणभर में नष्ट कर डालता है भेदज्ञानी आत्मा के साथ किसी तरहके कर्मका सम्बन्ध नहीं रह सकता है। जो लोग शुद्ध चिद्रूपको प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि ध्यानमें अन्य किसी भी पदार्थकी भावना न कर केवल एक भेद विज्ञानकी ही भावनाको करें आचार्य प्रवर अमृतचन्द्रजीने अपने समयसार कलश में कहा है-

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥

अर्थ—जितने भी आजतक सिद्ध हुए हैं वे सब भेद विज्ञानसे ही हुए हैं। जो अबतक संसार में भ्रमण कर रहे हैं और आगे करेंगे वे भेदविज्ञानके अभावमें ही ऐसा करेंगे। भेदविज्ञानीही मोक्ष प्राप्त करता है और मोक्ष बिना संवर

(आते हुए कर्मोंका रोकना) निर्जरा (क्रम २ से शेष कर्मोंका क्षय करना) के होता नहीं है। संवर और निर्जराका लाभ आत्मज्ञानसे होता है। इसलिए मोक्षाभिलाषी को चाहिये कि वह भेदविज्ञानको सवम कार्यकारी जान कर उसी की भावना करे। यह भेदविज्ञान शुद्धचिद्रूपके दिखानेके लिये जाज्वल्यमाना दीपकके समान हैं। जिस प्रकार दीपकके होते ही गाढ अन्धकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार भेदविज्ञान के होते ही मोहरूपी गाढ अंधकार नष्ट होकर शुद्धचिद्रूपका दर्शन होने लगता है। इसलिए भेदविज्ञानका अभ्यास करो। ऐसा भेदविज्ञान सम्यग्दृष्टिके ही होता है। सम्यक्त्वके बिना ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है। मिथ्याज्ञान आत्माको संसारकी परिपाटीकी तरफ ही झुकाता हैं। राग द्वेष रूप परिणति मिथ्यादृष्टिकी ही होती है, सम्यग्दृष्टी तो पदार्थके स्वरूपका विचार करता हुआ निश्चय करता है कि पर पदार्थोंसे मेरा कोई संबन्ध नही है। न ये मेरे होते हैं और न मैं इनका हूं, इनके साथ मेरा कोई संबंध नहीं है। जब परपदार्थोंसे संबंध ही नहीं है तब उनसे राग द्वेष क्यों कर करेगा। उसको तो परमार्थ स्वरूप प्रगट हो जाता है। एक विद्वान कविने कहा है—

जिनके घटमैं प्रगट्यौ परमारथ रागविरोध हिये न विचारै।
करकै अनुभौ निज आतमको विषयासुखसौं हितमूल निवारै॥

हरिकैं ममता धरिकैं समता अपनोबल फोरिजु कर्म विदारैं ।
जिनकी यह है करतूति सुजान सुआप तिरैं परजीवन तारैं

अर्थ—जिनके हृदयमें सत्यार्थ ज्ञान [भेदविज्ञान] प्रगट हो जाता है वे अपने हृदयमें राग द्वेषका विस्तार नहीं होने देते हैं। अपने आत्मस्वरूपका अनुभव करके पंचेन्द्रियोंके विषयोंके अनुभवसे उत्पन्न सुखको मूलसे उन्मूलन करते हैं, वे तो पर पदार्थोंसे ममत्व को दूरकरके समताको धारण कर आपने बलका परिचय देकर कर्म शत्रुका उन्मूलन कर डालते हैं। जिनकी ऐसी क्रिया है वे इस संसार समुद्रसे खुद तिर जाते हैं तथा अन्य जीवोंको भी तार देते हैं।

सम्यग्दृष्टि तो ऐसा विचार करता है कि-मैं हमेशा कर्मोंसे भिन्न हूं, मेरा चैतन्य पदार्थ संसार के तमाम पदार्थोंका यथार्थ प्रकाशक है, जितने राग द्वेष मोहादि विकारी भाव है वे मेरें नहीं हैं मैं इन रूप नहीं हूं ये तो परद्रव्यके निमित्तज भाव हैं इसलिए वियोगशील हैं, मेरा स्वरूपही मेरा है। सम्यग्दृष्टि अपने स्वरूप के विषयमें ऐसा विचार करता हैं कि मैं सदा राग द्वेष मोहसे रहित हूं। यद्यपि मुझे लौकिक क्रियाएं करनी पडती हैं पर उनको मैं इच्छा-रहित कर्मकी वरजोरीसे करता हूं। क्योंकि विषयरस मुझे सुहावने नहीं लगते, मैंने संसामें शुद्ध आत्माका अनुभव

करके मोह रूपी बलवान योद्धाको जीता है, मोक्ष मेरे बिलकुल समीप हो गया है अब तो मेरा अनंत काल इसी रूप बीते तो अच्छा है । ज्ञानी सम्यग्दृष्टिकी भावना तो ऐसी रहती हैं कि मैं सदैव ज्ञान रसमेंही रमण करूं, कभी भी शुद्ध आत्माके अनुभवसे चलायमान न होऊं। पूर्वकृत कर्म विषवृक्षके समान हैं, उनका उदय फल फूलके समान हैं, मैं इनका भोक्ता नहीं हूं इसलिए ये अपने आपही नष्ट हो जायंगे। भेदविज्ञानीकी महिमाका कहां तक कथन किया जा सकता है वह तो पूर्वमें कमाये हुए शुभाशुभ कर्मोंके फलको अनुराग पूर्वक नहीं भोगता है, सदैव शुद्ध आत्म पदार्थमें लवलीन रहता है वह तो शीघ्रही कर्मपरिणति रहित मोक्षपद प्राप्त करता हैं और आगामी कालमें परमज्ञानका आनंद अनंत काल तक भोगता है।

ज्ञानीकी उन्नतिके क्रमके विषयमें नाटक समयसारमें लिखा है–

अत्यंतं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च ।
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनायाः ॥
पूर्णंकृत्वास्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां ।
सानन्दं नाटयन्तः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबन्तु ॥

अर्थ—ज्ञानी जन-कर्म और कर्मके फलसे अत्यन्त विरक्ति भावनाको भाकर संपूर्ण अज्ञान चेतनाके नाशको

स्पष्ट रूपसे नृत्य करा कर अपने निज रससे प्राप्त किये स्वरूप रूप ज्ञान चेतनाको आनन्द सहित जसे हो वैसे पूर्ण कर नृत्य कराते हुए यहांसे आगे प्रशम रस जो कर्मके अभाव रूप आत्मिक अमृत रस उसको सदा काल पियो ! ऐसी ज्ञानी जनोंको प्रेरणा है।

तात्पर्य ये है कि भेद विज्ञानी पूर्वमें कमाये हुए कर्म रूप विष वृक्षके विष फलोंको नहीं भोगता है अर्थात्-शुभ फलमें रति तथा अशुभ फलमें अरति नहीं करता, मन वचन कायके योगोंका निग्रह करता हुआ अपना वर्ताव करता है, ममता रहित राग द्वेषको रोककर परीग्रह जनित सब विकल्पों का त्याग करता है, शुद्ध आत्माके अनुभवका अभ्यास करता है. वेह ज्ञानी ऊपर कहे हुए मार्गको ग्रहण करके पूर्ण स्वभाव प्राप्त कर केवलज्ञान पाता है और सदैव उत्कृष्ट अतीन्द्रिय सुखमें मग्न रहता है।

कविवर बनारसिदासजी शुद्ध आत्मद्रव्यको नमस्कार करते हैं-

निरभै निराकुल निगम वेद निरभेद,
जाके परगासमैं जगत माइयतु है।
रूप रस गंध फास पुदगलको विलास
तासौं उदवास जाको जस गाइयतु है।
विग्रहसौं विरत परिग्रहसौं न्यारौ सदा
जामैं जोग निग्रह चिहन पाइयतु है।

सो है ज्ञान परवांन चेतन निधान ताहि
अविनाशी ईस जानि सीस नाइयतु है॥

अर्थ—आत्मा निर्भय, आनंदमय, सर्वोत्कृष्ट, ज्ञानरूप और भेद रहित है। उसके ज्ञानरूप प्रकाशमें त्रैलोक्यका समावेश होता है। स्पर्श, रस, गंध और वर्ण ये पुद्गलके गुण हैं, इनसे उसकी महिमा निराली कही गई है। उसका लक्षण शरीरसे भिन्न, परिग्रहसे रहित, मन वचन कायके योगोंसे निराला है वह ज्ञान स्वरूप चैतन्य पिण्ड है, उसे अविनाशी ईश्वर मान कर मस्तक नमाता हूं। इस प्रकार सम्यक्त्व पूर्वक भेदज्ञानी आत्माका महत्व वर्णन किया गया है।

इस प्रकार हे भव्यात्मा तू समझ जा, तुझ तो यही निश्चय करना चाहिये कि मैं तीन लोकका पूज्य परमात्म स्वरूप हूं इसी अभिप्रायको लेकर भगवान कुंदकुंदने अपने नियमसारमें बतलाया है।

एगो मे सासदो आदा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥

अर्थात्—ज्ञान दर्शन लक्षण वाला मेरा ये आत्मा ही नित्य है, बाकीके संपूर्ण पदार्थ बाह्यरूप हैं और सभी संयोग वियोग रूप हैं। इस बात को तू अच्छी तरह समझ कर अपनी भ्रांतिको दूर कर तो कोई समय तू भी परमात्मा

बन जावेगा।

॥॰ अब हम तुझको वही उपाय बतलाते हैं जिससे तूं आत्मासे परमात्मा बन सके। हमारे द्वारा बतलाये हुए उपायको ही तूं अंगीकार कर।

पहिले लोभको तूं बिलकुल छोड दे, किसी पर क्रोध मत कर, मायाचार रहित कार्य करनेकी कोशिश कर, मानकी मर्यादा की रक्षा करने में मत फंस, हे आत्मन् तूं विचार संसार में इन क्रोधादिके सिवाय तेरा कोई शत्रु नहीं है इसलिये इनसे बचनेके उपाय श्रीगुरुने तुझे जिस तरहके बतलाये हैं सो सुभ-वैराग्यमणिमालामें कहा गया है—

भ्रातर्मे वचनं कुरु सारं चेत्त्वं वांछसि संसृतिपारम्।
मोहं त्यक्त्वा कामं क्रोधं त्यज भज त्वं संयमवरबोधम्॥

अर्थ—हे भाई यदि तूं संसारसमुद्रके पार जाना चाहता है तो मेरे सारभूत वचनोंका पालन कर, सबसे पहिले मोहको छोडकर काम क्रोधकाभी त्यागकर, संयम वा सम्यग्ज्ञानको धारण कर। यदि तूं इन दोनों बातोंको अपनाने लगेगा तो तूं संसार समुद्रसे पार हो सकता है, अन्यथा तूं हमेशाके लिये संसाररूपी गड्ढेमें गिरेगा जिससे निकलना अत्यंत कठिन मार्ग होगा। उससे तुम्हारी क्या दशा होगी सोभी बतलाया जाता है—

एको रोगी शोकी एको दुःखविहीनो दुःखी एकः ।
व्यवहारी च दरिद्री एकः एकाकी भ्रमतीह वराकः ॥१०॥

अर्थ—हे आत्मन् चाहे रोगकी दशा हो या शोकपूर्ण दशा हो, दुःखोंसे रहित दशा हो या दुःखसहित दशा हो सबको यह जीव अकेलाही भोगता है। इसी प्रकार व्यवहार चलानेवाला वा दरिद्री भी यह जीव अकेलाही है। ज्यादा क्या कहा जाय यह संसारी जीव संसारकी चारों गतियों में अकेलाही चक्कर लगाता है। आगे और भी कहा है—

दुर्गतिदुःखसमूहैर्मग्नस्तेषां पृष्ठे पुनरपि लग्नः ।
विकलो मत्तो भूताविष्टः पापाचरणे जन्तो दुष्टः ॥११॥

अर्थ-इन विषय कषायोंके संबन्धके निमित्तसे नरक-गति आदि दुर्गतियोंके अनेक दुःखोंसे यद्यपि अनेक बार जर्जरित हो गया है फिरभी तूं उन्हींके पीछे हाथ धोकर पड़ा हुआ है। ए क्षुद्र कीट ! तूं अधम आचरणमें लगा हुआ है! जिससे कि दुष्ट विषय कषायोंसे आच्छादित ज्ञान रहित मदसे उन्मत्त, पापी भूतोंसे पकड़ा हुआ (पागलसा फिरा जानेवाला) हो रहा है, इससे अब चेत-तेरी आत्मा कैसी है ? तूं तो शुद्ध बुद्ध है, तेरा किसीके साथ कोई संबन्ध नहीं है।

क्या त्यागना तूं चाहता ? चिन्मात्र तूं निःसंग है ।
तूं शुद्ध है तेरा किसीसे लेश भी नहिं संग है ॥

निःसंग निजको जानले मत हो दुखी मत दीन हो।
इस देहसे तज संग दे बस आप में लवलीन हो ॥

इस छंद का अर्थ ऊपर बतला दिया है फिर भी इसका अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि तेरे आत्माका जो स्वरूप है शरीरका स्वरूप उससे बिलकुल भिन्न है, दोनोंका पृथकपना प्रत्यक्ष दीखता है कविवर द्यानतरायजीने जीव और पुद्गलकी भिन्नता इस छदमें बडी खुबसूरतीके साथ बतलायी है—

जीव चेतना सहित, आप गुन पर गुन जानै।
पुग्गलद्रव्य अचेत आप पर कछु न पिछानै।
जीव अमूरतिवंत मूरति पुग्गल कहियै।
जीव ज्ञानमय भाव भावजड पुग्गल लहियै।
यह भेद ज्ञान परगट भयौ, जो पर तजि अनुभौ करै।
सो परम अतिन्द्री सुख सुधा भुंजत भौ सागर तिरै ॥
यह अशुद्ध मैं शुद्ध देह परमाण अखंडित।
असंख्यात परदेस नित्य निरभै मैं पंडित
एक अमूरति निरउपाधि मेरो क्षय नाहीं
गुन अनंत ज्ञानादि सर्वते हैं मुझमाहीं ॥
मैं अतुल अचल चेतन विमल सुख अनंत मो मैं लसै।
जब इस प्रकार भावत निपुण सिद्धखेत सहजैं बसै ॥

अर्थ—जीव चेतना गुण सहित होनेसे अपने आपके

और पुद्गलादि द्रव्योंके गुणोंका जानकार होता है, पुद्गल द्रव्य चेतनगुणसे रहित होता हुवा आप और परकी कुछ भी परिणाम नहीं करता है। जीव अमूरतीक है, पुद्गल मूर्तीक है, जीवके भाव ज्ञानस्वरूप हैं पुद्गल के भाव जड (अज्ञान) रूप हैं। इस प्रकारका भेदज्ञान जब प्रगट होजाता है तब परको छोडकर अपने आपका अनुभव करने वाला होता है ऐसा जीव परम अतींद्रिय सुखामृतका भोग करता हुवा संसार समुद्रसे तिर जाता है। ज्ञानी जीव फिर ऐसा विचार करता है कि पुद्गल अशुद्ध है, मैं शुद्ध हूं, देहप्रमाण होता हुआ खंडसे रहित हूं, मेरे निश्चयनयसे लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेश हैं, मै नित्य हूं, भय रहित ज्ञानका पुञ्ज हूं, मैं एक अमूर्तीक औपाधिक भावोंसे रहित हू, मेरा कभी नाश नहीं है, मेरे अन्दर ज्ञानादि अनन्त गुण मौजूद हैं। मैं अतुल हूं अचल हू, चैतन्य स्वरूप हू, निर्मल हूं, मुझमें अनन्त सुख है। जब इस प्रकारकी भावना करता है तब वह भेदविज्ञानी सहजमे मोक्षमें निवास करने लगता है। इससे हे आत्मन् तूं विचार जो देह है वह तू नहीं है और जो तू है सो देह नहीं है फिर शून्य क्यों होरहा है। फिरभी तुझे समझानेके लिये कहा जाता है। आंख खोल और कान लगाकर सुन—

१ चेतनको कर भिन्न तनसे, शांति सम्यक पायगा।

होगा तुरतहिं तूं सुखी, संसार से छुट जायगा ॥

हे भव्य ! विचार कर तेरा चेतन स्वरूप आत्मा इस अनित्य शरीरसे बिलकुल जुदा है। यह आत्मा इस शरीरके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे प्रथक द्रव्य क्षेत्र काल भाव वाला है। ऊपर बतलाही दिया गया है कि आत्मा चैतन्य लक्षण वाला है और शरीर जड लक्षण है। जब तक तूं इसको दृष्टि भेद से नहीं देखेगा तब तक तेरेको शांति प्राप्त नहीं हो सकती इससे तू इनके स्वरूप पर पूर्ण २ विश्वास कर और उसी तरहका उनके स्वरूपकी पहिचान कर, ज्ञान होने बाद वैसा ही आचरण कर। तेरा आत्मा ही परमात्मा बन जावेगा। अगर ऐसा नहीं किया तो फिर संसारमें हो जन्म मृत्यु के दुख उठाने पडेंगे। यही बात सज्जन चित्तवल्लभमें बतलायी गई है।

सौख्यं वाञ्छसि किन्त्वया गतभवे दानं तपो वा कृतम्।
नो चेत्त्वं किमिहैवमेव लभसे लब्धं तदत्रागतम् ॥
धान्यं किं लभते विनापि वपनं लोके कुटुम्बी जनो।
देहे कीटकभक्षितेक्षुसदृशे मोहं वृथा मा कृथाः ॥१५॥

सवैया —

चाहत है सुख क्या पिछले भव, दान दिया अरु संयम कीना।
जातर या भव में सुख प्रापति होत, भई सो पुराकृत कीना॥
जो नहि डारत बीज मही पर धान कहै न कृषी मति हीना।

कीटक भक्षित ईख समान, शरीर विषै तज मोह प्रवीना ॥१५॥

अर्थ—हे जीव ! जो तूं सुखकी वांछा करता है सो क्या तूने पूर्वभवमें दान दिया था? या कोई तप किया था? यदि न दान दिया और न तप ही किया है तो तुझे इस लोकमें सुख कैसे मिल सकता है? जैसा पूर्वभवमें किया था वैसा ही इस भवमें पा लिया। देखो संसारमें किसान लोग क्या बिना बोये भी कहीं धान पाते हैं ! कभी भी नहीं पाते हैं। देखो कीडोंसे खाये हुए ईखके समान अर्थात काने गन्ने के समान हम समारके बढाने वाले इन विषय कषायोंके रगमें मत फँस, नही तो पहिलसे दुःख पाता हुआ यहां तक पहुंचा है और ऐसा करके फिर भी दुख पायेगा। देखतो सही तेरे आत्माका ही स्वरूप विचार और उसमें ही संतोष धारणकर उसीका शरण ग्रहण कर, तेरी आत्माका स्वरूप सिद्धांतोंमें ऐसा बतलाया है-अमितगति आचार्यने सामायिक पाठमें कहा है यथा—

विभासते यत्र मरीचिमाली न विद्यते यद्भुवनावभासी।
स्वात्मस्थित बोधमयप्रकाशं तं देवमाप्त शरणं प्रपद्ये ॥ १९ ॥

अर्थ—जिसमें लौकिक सूर्य नहीं रहते हुएभी तीन लोकको प्रगट करनेवाला ज्ञानसूर्य प्रकाशमान होरहा है, ऐसा सूर्य निश्चयनयसे अपने आत्मामें ही मौजूद है ऐसा आप्तदेव तेराही आत्मा है। सो हे आत्मन् तूं उसकाही

शरण ग्रहण कर। संसारमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो तेरी आत्माको बिना किये इस संसारके दुःखोंसे छुटकारा दिला सके।

आगे फिरभी उसी सामायिक पाठमें कहागया है कि—
यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्धं तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये २७

अर्थ—जिस शरीरके साथ इस आत्माको रहते हुए अनन्तकाल बीत गया फिरभी इन दोनोंमें परस्परमें एकता नहीं पाई गई फिर बतलाओ उस आत्माके साथ अत्यन्त भिन्न पुत्र, मित्र, स्त्री आदि की एकता कैसे हो सकती है ? यदि विचार किया जाय तो ऐसा है कि शरीरके ऊपरका यदि चमडा दूर कर दिया जाय तो रोमके छेद उसमें कैसे रह सकते हैं ? क्योंकि वे छेद तो शरीरके चमडेके ही आश्रय से रहते हैं। ऐसे ही हे आत्मन्! तेरे जितने भी मिलने जुलने वाले हैं वे सब इस शरीरके छूटते ही छूट जावेंगे लार (साथ) क्या जाने वाला है यही दिखाते हैं—सज्जनचित्तवल्लभमें कहा है कि—

यद्वांछति तत्तदेव वपुषि दत्तं सुपुष्टं त्वया
सार्धं नैति तथापि ते जडमते मित्रादयो यान्ति किम्।
पुण्यं पापमिति द्वयं च भवतः पृष्ठेन यातीह ते।
तस्मान्मास्मकृथा मनागपि भवान्मोहं शरीरादिषु ॥११॥

सवैया —

जो कुछ मांगत वस्तु सुपोषक,
तूं तनको नित देत अज्ञानी।
तोहु नहीं यह तो संग जावहि,
मित्रनकी फिर कौन कहानी॥
पुण्य रू पाप चलैं तब पीछहु,
तू इन दोउनको अगवानी।
यौं लखिकै तन आदितें नेह,
तजौ यह मोह महा दुखदानी ॥ ११ ॥

अर्थ--हे जडबुद्धि चेतन! अबतो विचार कर, यह तेरा जड शरीर जो २ पुष्ट पदार्थ चाहता है सो सो तूं इसे बराबर देता है, तो भी यह तेरे साथ नहीं जाता है और पहिले भी यह शरीर किसीके साथ नहीं गया है। फिर स्त्री पुत्र मित्रादिक तो जाही कैसे सकते हैं। तेरे साथमें तो तेरे द्वारा उपार्जित पुण्य पाप ही जावेगा, इसलिए तूं चेत, सम्हल, ख्यालकर जो पदार्थ अनादिकालसे साथ है वह ही साथ नहीं जाता फिर कुटुम्ब मित्रादि तो इसी भवके साथी हैं वह साथमें कैसे जावेंगे? न जावे तो इसमें आश्चर्य ही नहीं है। क्योंकि ये तो सब स्वार्थके ही साथी हैं। ऐसा सज्जनचित्तवल्लभमें दिखलाया है-सो ही कहते हैं-

शार्दूल विक्रीडित छन्द—

शोचन्ते न मृत कदापि वनिता यद्यस्ति गेहे धनम्।
तन्नास्तीति रुदन्ति जीवनधिया स्मृत्वा पुनःप्रत्यहम्॥
कृत्वा तद्दहनक्रियां निजनिजव्यापारचिन्ताकुलाः
तन्नामापि हि विस्मरन्ति कतिभिः संवत्सरैर्योषितः॥१२॥

सवैया—

जो घरमें धन हो, न कदापि करै तिय शोच मरै बलमाकी।
जो नहि हो धन तो नित रोवत धार हिये अभिलाष जियाकी
दग्ध कियें पर सर्व कुटुम्बके स्वार्थ लगैं ममता तज ताकी।
केतिक वर्ष गये अबलाजन भूलहिं नाम न लें सुधवाकी॥१२

अर्थ—हे प्राणियो तुम रात और दिन जिस कुटुम्बके कारण पाप करते हो उनका व्यवहार तुम्हारे साथ इस प्रकार का होता है कि जिसको देखकर विवेकीजन त्यागकी तरफ झुक जाते हैं। देखो यदि घरमें धन हो तो पतिके मर जाने पर स्त्रियां शोक नहीं करतीं, क्योंकि धनके होनेसे उनके वा सारे कुटुम्बके सांसारिक सुखमें कोई बाधा नहीं आसकती है। यदि घरमें धन न हो तो प्रतिदिन मरे हुएको स्मरण कर कर इसलिये रोती हैं कि हम अपना समय कैसे निकालेंगे क्योंकि धनका संग्रह कर पोषण करने वाला तो अब कोई रहा ही नहीं, इसलिये हम कैसे जीवेंगी वा इस कुटुम्बका पालन पोषण कैसे होगा? पतिकी दग्धक्रिया हो जाने बाद

क्या स्त्री क्या कुटुम्बके लोग सभी अपने २ व्यापारमें लग जाते हैं। कुछ वर्षों बाद उसको बिलकुलही भूल जाते हैं। बतलाना ये है कि संसारका व्यवहार बिलकुलही स्वार्थसे भरा हुवा है।

कविवर द्यानतरायजीने धर्मविलासमें कहा है-

कुण्डलियां-

यह संसार असार है कदली वृक्ष समान।
यामें सारपनो लखे सो मूरख परधान ॥
सो मूरख परधान मानि कुसुमनि नभ देखे।
सलिल मथै घृत चहै शृंग सुन्दर खर पेखै ॥
अगनि मांहि हिम लखै सर्प मुख मांहि सुधा चहै।
जान जान मन मांहि नांहि संसार सार यह ॥१०॥

कवित्त ३१ मात्रा-

तात मात सुत नारि सहोदर इन्हें आदि सब ही परिवार।
इनमें वास सराय सरीखो नदी नाव संयोग विचार ॥
यह कुटुम्ब स्वारथको साथी स्वारथ बिना करत है ख्वार।
तातैं ममता छांडि सुजान गहौ जिनधर्म सदा सुखकार ॥३१॥
चेतन जी तुम जोरत हो धन सो धन चलै नहिं तुम लार।
जाकौ आप जान पोषत हो सो तन जारिकैं ह्वै है छार ॥
विषै भोगिकै सुख मानत हौ ताकौ फल हैं दुःख अपार।
यह संसार वृक्ष सेमरको मान कह्यौ मैं कहूं पुकार ॥३२॥

इन छन्दोंका भाव ऊपर आचुका इसलिए पुनः नहीं लिखा जारहा है। मतलब यह हैं कि इस आत्माके साथ अनादिकालसे जो मोहका साथ लगा हुआ है उससे यह जीव स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब धन, धान्यादि में इतना उलझा हुआ है कि अपने आपको बिलकुल भूला हुवा है, जानता हुवा भी गढ्ढेमें पडता है। देखरहा है कि सारा संसार स्वार्थ से अन्धा बन रहा हैं, प्रेम और द्वेष स्वार्थके बनने बिगडने से बनते हैं, पिता पुत्रको, और पुत्र पिताको, स्त्री पतिको और पति स्त्रीको, मालिक सेवकको और सेवक मालिकको, भाई बहिनको बहिन भाईको, भाई भाईको तभी तक प्यारे लगते हैं या इनमें परस्परमें तभी तक प्रेम रहता है जब तक स्वार्थका बनाव रहता है, स्वार्थ यदि नहीं बनता है तो उसी समयसे एक दूसरेके शत्रु बन जाते हैं। यहां तक कि प्राणों तकके प्यासे हो जाते हैं। इस तरहकी संसारकी हालत देख कर ही एक ज्ञानी अपनी भावना नीचे लिखे छंदमें व्यक्त करता हुआ कहता है—

सरसौं समान कहुं सुख नाहीं गृह माहिं
दुख तो अपार मन कहांलौ बताइये।
तात मात सुत नारि स्वारथके संग भ्रात
देह तौ चलै न साथ और कौन गाइये।
नरभौ सफल कीजै और स्वाद छांडि दीजै

क्रोध मान माया लोभ चितमें न लाइये।
ज्ञानके प्रकाशनकौं सिद्धथान वासनकौं
जीमें ऐसी आव है कि जोगी बन जाइये॥

अये भव्यात्माओ! वास्तवमें देखा जाय तो संसारमें भ्रमसे सुखकी कल्पना कीजाती है, सुख है नहीं। यहां तो दुख ही दुख भरा पडा है। जिन कुटुम्बियोंको सुखके लिए कल्पित किया जाता है वे भी धोखेकी टट्टी ही सिद्ध होते हैं। जिस देहके भरण पोषणके लिए नाना प्रकारके पाप किये जाते हैं वह भी कभी साथ नहीं देता और का तो कहना ही क्या है, इसलिए इस प्राप्त किये हुए नर भवको सफल करो, इन इन्द्रियोंके विषयोंके भोगनेमें जो आनन्द आता है वह क्षणिक तथा नश्वर है उससे परांमुखता धारण करनी चाहिए तथा क्रोध, मान, माया और लोभको अपने हृदयमें स्थान नहीं देना चाहिए, ज्ञानके प्रकाश करनेको तथा सिद्धस्थानमें निवास करनेके लिए मनमें ऐसी भावना उत्पन्न होती है कि एकल बिहारी साधु बन जाऊं।

वास्तवमें देखा जाय तो ज्ञानी आत्मा संसारके स्वरूप का यथार्थ ज्ञाता होनेसे वह किसी भी इन्द्रियके विषयमें लवलीन नहीं होता है। इसलिए हे आत्मन्! अब तो चेतो, अनादिकालसे आज तक विषय कषायोंमें ही तुम फंसे रहे अब तो शाश्वतिक कल्याण करनेका भाव लाओ, यदि ऐसा

तुमने नहीं किया तो यह अमूल्य मनुष्य पर्याय तुम्हारे हाथसे व्यर्थ ही निकल जावेगी और तुझे बार बार परिभ्रमण जन्य दुःख उठाने पडेंगे। यदि यह मौका हाथ आगया है है तो इसको अब व्यर्थ मत जाने दो। मनुष्य पर्याय प्राप्त करके क्या कर्तव्य करना चाहिए यह बतलाया जाता है उसको ध्यानमें लो।

सबसे पहिले मरण आदिके भयोंसे भयभीत नहीं होना चाहिए, ऐसे भयोंको रखनेसे तुम अपनी जीवन नौका को पार नहीं लगा सकते, इसलिए वस्तु स्वरूपका विचार कर तुम्हें निडर होना चाहिए, जो सम्यग्ज्ञानी होता है वह संयोग वियोगका जरा भी विचार नहीं करता है, वह तो पर पदार्थोंके सम्बन्धको अनित्य जान कर उनसे अपने आपको अलग रखनेका ही उद्योग करता है। जितने भी पदार्थ हैं पर्याय रूपस सब नश्वर ही हैं, जीवन मरण तो पर्याय रूप हैं, दश प्राणोंका यथायोग्य संबंध होना जीवन है और उन का वियोग होना मरण है। कोई ऐसा समझता हो कि आत्मा का उत्पाद और नाश होता है सो ऐसा समझना तो भ्रम है आत्मा (जीव) का कभी न तो उत्पाद हुआ है न होता है, और न होवेगा। वह तो अजर अमर है, अनादिनिधन है, इस बातका केवल जैन धर्मही नहीं कहता है, सनातन धर्मके बडे २ विद्वानोंका भी यही अभिमत है। देखिये गीता

इस विषयमें क्या सिद्धात बतलाता है, उसका कहना है कि-

नैनं छिंदन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक ।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

अर्थ-इस आत्माको न कोई शस्त्र छेदन करता है न अग्नि जलाता है, न जल गलाता है और न वायु सुखाता है। आत्माका नाश किसी उपायसे नहीं होता है। आत्मा सत पदार्थ है असत नहीं है। इसलिये उसका नाश तो कदापि नहीं हो सकता है। पंचास्तिकायमें लिखा है-

भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।

गुणपज्जयेण भावा उप्पादवए पकुव्वंति ॥

अर्थ-न तो भावका (सतका) नाश ही होता है और न अभाव (असत) का उत्पादही होता है जो सत्पदार्थ हैं वे अपने गुण पर्यायोंमें उत्पाद व्यय करते रहते हैं । इसी भावका गीतामें श्लोक है-

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥०२॥

इस श्लोकका भी ऊपरके अनुसार ही अर्थ समझना चाहिये । आत्मा पदार्थ सत्स्वरूप है इसलिए इसका अभाव त्रिकाल नहीं हो सकता है ।

जिसने आत्माके स्वरूपको नहीं समझा है वह शरीर और आत्माको एक ही मानता है ऐसा जीव बहिरात्मा

मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यादृष्टि एकान्तवादी कदाग्रही होता है उसे सदसत्का ज्ञान नहीं होता मिथ्यादृष्टि बाह्य पदार्थोंमें ममत्व रखता है। इस बातका जरा भी विचार नहीं करता है कि ये दृश्यमान अचेतन और चेतन पदार्थ मेरे हो सके हैं या नहीं ? इस बातका विवेक तो सम्यग्दृष्टिको ही होता है। सम्यग्दृष्टि बाह्य पदार्थोंके विषयमें जो धारणा रखता है उसका दिग्दर्शन सामायिक पाठमें इस प्रकार बतलाया है-

न सन्ति बाह्या मम केचनार्थाः
भवामि तेषां न कदाचनाहम्।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं
स्वस्थः सदा त्वं भव भद्र मुक्त्यै ॥

अर्थ—दृश्यमान धन धान्यादिक बाह्य पदार्थ कोई भी मेरे नहीं हैं और मैं भी इन रूप कभी भी नहीं हो सकता हूं, इसलिए हे भद्र ! ऐसा निश्चय करके बाह्य पदार्थोंका त्याग करके मुक्ति प्राप्त करने के लिये सदा स्वस्वरूपमें तत्पर रहो। अर्थात् अपने स्वभावमें स्थिर रहो, हे आत्मन् तुम्हारा रूप क्या है इस बातको भी बतलाया है-

आत्मानमात्मन्यवलोकमानस्त्वं दर्शनज्ञानमयो विशुद्धः।

अर्थात-हे आत्मन् तुम अपने आपको देखने वालेहो अतः ऐसा निश्चय करो कि मैं निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभाव वाला हू। यह कथन शुद्ध निश्चय नयकी विवक्षासे हैं; ऐसे स्वरूपकी

प्राप्ति प्रयत्न करने से होती है। इसके लिये मिथ्यात्वका सब से पहिले अभाव करना चाहिये, क्योंकि कहा गया है कि–

मिथ्याभाव अभावतें जो प्रगटै निज भाव।
सो जयवंत रहौ सदा ये ही मोक्ष उपाव॥

अर्थात् मिथ्यात्वके अभाव होने पर निजभावका प्रगट होनाही मोक्ष प्राप्तिका उपाय है। अनादि कालसे आत्मा कर्मोंके संबंधसे मलीन हो रहा है इससे अपने स्वरूपकी पहिचान नही हो पाई। अपने स्वरूपकी पहिचान न होने से सच्चे आत्मिक सुखका अनुभव भी नहीं हुवा। जो सच्चा सुख है उसको तो वैरी कर्मों ने घात रक्खा है, यदि कर्म नाश कर दिये जांय तो सच्चे सुखका अनुभव स्वतः स्वभाव होने लग जाय। कर्माके संबंधमें आत्मा पराधीन है, जहां पराधीनता है वहां सुख है ही नहीं इसलिये सबसे पहिले कर्मासे आत्माको अलग करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

जीवकी दो दशाएं होती हैं (१) बंधरूप (२) मोक्षरूप कर्मसहित जीवकी दशाको बंध दशा कहते हैं और कर्मसे अलग होने पर जीवकी जो दशा होती है उसको मोक्ष दशा कहते हैं। मोक्षदशा बंधदशा पूर्वक ही होती है। जिस· का बंध नही होता उसकी क्या मुक्ति होगी? अब प्रश्न ये होता है कि क्या जीव हमेशासे ही बंध दशामें है या किसी समय कारणावश बंध दशामें होगया है? इस प्रश्नका का

उत्तर हमारे इस प्रश्नसे होजाता है कि तिलमें जो तेल और खली है वह जब से तिल है तभीसे है या बादमें तैल खली का संबंध होगया है ? जो उत्तर हमारे प्रश्नका होसकता है वही उत्तर आपके प्रश्नका समझना चाहिये । कहनेका मतलब ये है कि जैसे तिलमें तैल और खलीका अथवा खदान से निकलने वाले सुवर्ण में मिट्टी आदिका संबंध अनादि कालसे है उसी तरह जीवके साथ कर्मका संबंध अनादि कालसे । यहां कोई ऐसा प्रश्न करे कि संबंध तो किसी निमित्तको पाकर होता है आपके जीव कर्मके संबंध होनेमें निमित्त क्या है ? यदि आप निमित्त स्वीकार करते हैं अर्थात् पहिले तो जीवके साथ कर्मका सबंध नहीं था बादमें निमित्त पाकर कर्मका बंध होगया ऐसा स्वीकार करते हो तो सबंध अनादि कालसे है ऐसा नही कहा जा सकता है, क्योंकि जो संबंध किसी निमित्तसे होता है उसकी आदि जरूर होनी चाहिये ! जिसकी आदि होगी वह अनादि हो नही सकता ! दूसरी बात यह है कि जिसकी आदि नहीं होती है उसका अन्तभी नहीं है जीव कब उत्पन्न हुवा तथा उसका अंत कब होगा ऐसा निर्णय नहीं हो सकता है, उसी तरह जीव कर्मका बन्ध अनादिकालसे है तो उस बन्धसे मुक्ति कभी होनी ही नहीं चाहिए ?

इसका समाधान करनेके लिए सिद्धान्तमें ऐसा बत-

लाया गया है कि बन्ध दो तरहका होता है एक अनादि-बन्ध दूसरा सादि बन्ध। अनादि बन्धमें कारणकी या अन्य निमित्तकी कोई आवश्यकता नहीं होती है। नवीन बन्धमें कारण अथवा निमित्तकी आवश्यकता हो सकती है। आपने पुद्गल परमाणुओंके बन्धके विषयमें शास्त्रोंमें सुना होगा कि पुद्गल परमाणुओंका नवीन बन्ध स्निग्ध रूक्ष गुणके निमित्तसे ही होता है परन्तु सुमेरु पर्वत आदि अनादिकालसे ज्योंके त्यों चले आरहे हैं, पुद्गल स्कन्धोंमें बन्धके निमित्तका कुछ प्रयोजन नहीं है उसी तरह नवीन परमाणुओंका कर्म रूप होना तो राग द्वेष आदि भावोंसे ही होता है परन्तु अनादि पुद्गल परमाणु जो कर्मरूप अवस्थाको प्राप्त होते हैं जिनका सम्बन्ध अनादि से है उनके लिए निमित्तका कोई प्रयोजन नहीं है, यदि अनादि बन्धमें भी निमित्त माना जायगा तो फिर वह अनादि न रह कर सादि होजायगा। इसलिए जीवके साथ कर्मका सम्बन्ध अनादि कालसे ही मानना चाहिए।

वास्तवमें देखा जायतो रागादि भावोंका कारणतो द्रव्य-कर्म है और द्रव्यकर्मका कारण रागादि भावहैं। यदि ऐसा कहा जायकि इस कथनसे तो इतरेतराश्रय दोषका प्रसंग आजायगा तो यहां ये दोष नहीं आसकता और कह सकते हैं कि द्रव्यकर्म रागादि भावकर्मोंके आश्रय होजायंगे और भाव-

कर्म द्रव्यकर्मके आश्रय होजायंगे ? परन्तु यहां पर यह दोष नहीं लग सकता, क्योंकि आत्माके साथ द्रव्यकर्मका सम्बन्ध अनादिकालसे है और वह स्वयं सिद्ध है उसके लिए किसी कारणकी आवश्यकता नहीं है। युक्तिसे भी यह बात सिद्ध होती है कि रागादि भावकर्म यदि द्रव्यकर्मके बिना भी जीवमें पाये जायंगे तो भावकर्म जीवके निज भाव होजायंगे, जब भावकर्म जीवके निज भाव होजायंगे तब जीवको शुद्ध भावोंकी प्राप्ति होना असम्भव होजायगी, कारण कि निज भावके अभाव होनेसे द्रव्यका ही अभाव होजाता है।

अब आपका प्रश्न ऐसा हो सकता है कि जब जीवके साथ कर्मोंका संबध अनादिकालसे है तब यह जीव उन कर्मोंसे कैसे छूट सकता है और कैसे मुक्त हो सकता है ! क्योंकि जो संबध अनादि का है वह हमेशाही रहेगा, वह तो बीचमें कभी छूटही नहीं सकता ? इसका समाधान ऐसा है कि जैसे ऊपरके दृष्टांतमें बतलाया गया है कि तिलमें तेल और खली अनादिकाल से है परंतु पीछेसे तिलोंको कोल्हूमें पेरने पर तैल खली दोनों तत्त्व अलग २ हो जाते हैं, ठीक इसी तरह जीव और कर्मका संबंध भी अनादि कालसे है परंतु तप आदि कारणोंके मिल जानेसे वे कर्म भी आत्मासे अलग २ हो जाते हैं यह बात अनुमान और शास्त्र दोनोंसे

सिद्ध होती है।

ऊपर बतलाया गया है कि जीव शुद्धनयसे रूप रस गंध स्पर्श तथा वर्ण रहित होने से अमूर्तीक है और पुद्गल चेतन गुण रहित तथा स्पर्श रस गध वर्ण सहित होनेसे मूर्तीक तथा जड है, इस प्रकार जीव और कर्मकी एक जाति नहीं है, ये तो लक्षण और संज्ञादि की दृष्टिसे भिन्न २ ही हैं। जीवका कोई भी प्रदेश किसी समय किसी भी प्रकार मक रूप नहीं हो सकता है एव कमका भी कोई प्रदेश किसी समय जीव रूप नही हो सकता है, इस प्रकार ये दोनों द्रव्य भिन्न २ हैं और आगे भी भिन्न ही रहेंग इससे यह सिद्ध हुवा कि जैसे एक जीवके साथ कर्मोंका संबंध अनादि कालसे है एवं जितने भी सभारी जीव हैं उन सब के साथ कर्मोंके साथ अनादि संबध हैं।

अब मुझे यह बतलाना है कि कर्मोंसे आत्माको स्वतंत्र करनेके लिये भारी प्रयत्न भी करना पडता है और उपसर्ग भी सहन करने पडते हैं। कर्मका उदय भी बडा बलवान होता है बडे २ दुर्धर तपस्वियोंका भी पीछा नहीं छोडता है। "श्रेयांसि बहु विघ्नानि" अर्थात् जितने अच्छे अच्छे काम किये जाते हैं उनमें नियम से विघ्न आया करते हैं। क्या आप लोगों ने ग्रंथोंमें कथाओं द्वारा नही जाना है कि राग द्वेष त्यागी, संसार शरीर और भोगोंसे

विरागी, आत्मान्वषी मुनि लोग अपने उपयोगको निर्मल रखते हुए कसे २ दुख सह ते हैं। अब मैं कहता हूं–

(१) एक सुकुमाल मुनि हुए हैं जिन्होंने पूर्व भवमें अपनी भौजाईको लात मारी थी, वह भौजाई रौद्रध्यानसे मर कर व्याघ्री हुई, उसके कई बच्चे हुए। एक वक्तकी बात है, श्री सुकुमाल मुनि वनमें ध्यान लगा कर आत्माका चिन्तवन कर रहे थे तब व्याघी बच्चों सहित आई, पूर्व भवका वैर चितार कर मुनिराजके शरीरमेंसे खून चूस गई, मुनिने अपने पुरुषार्थमें कमी नहीं की, उपसर्गको समता भावसे जीतकर मरे और सर्वार्थसिद्धि विमानमें देव हुए, अब वहां की आयु पूर्ण कर इस लोकमें मनुष्य होकर मोक्ष जावेंगे। यह फल समता भावोंको धारण करनेका है।

(२) सुकौशल मुनिराजकी मांने परपर्यायमें सिंघनी की पर्याय धारण कर सुकौशल मुनिके शरीरका भक्षण किया फिर भी मुनिराज अपने लक्ष्यमे जरा भी नहीं विचलित हुए अन्तमें उन्होंने सिद्धि पाई।

(३) गजकुमार मुनिराजके श्वसुरने उनके शरीरपर अग्नि जलाई, मुनिराजने शरीर जलनेके साथ तमामको भस्म कर केवलज्ञान जगाया और हमेशाके लिए सिद्धिपद प्राप्त किया।

(४) श्री सनत्कुमार मुनिराजके शरीरमें १०० वर्ष तक कुष्ट रोगकी वेदना रही परन्तु मुनिराज अपने कर्तव्य मार्ग से जरा भी चलायमान नहीं हुए जिससे उन्होंने आत्म-सिद्धि प्राप्त की।

(५) ललितघटादि ३२ मुनिराज नदीमें बह गये उन्हों ने अपने भावोंमें संक्लेशता नहीं आने दी।

६ धर्मघोष मुनिराज ने तृषा परीषह सहकर प्राण त्याग दिये, पानी पीनेकी जरा भी इच्छा नही की, धन्य हैं ऐसे मुनिराज।

७ श्रीदत्त मुनि पर देवों ने उपसर्ग किया। लेकिन मुनिराज ने अपनी समाधि नही त्यागी व तो अपने आत्म-ध्यानमें ही लीन रहे।

८ वृषभसेन मुनि की प्रतिज्ञा शिला पर बैठकर ध्यान करने की थी एक वक्त एक देव ने उनकी शिलाको खूब तप्त कर दी फिर भी वह ध्यानसे विचलित नही हुए। कितने ही विघ्न आने पर भी अपने ध्यानसे विचलित नही होना यही तो आत्मवीरों की वीरता है।

९ अभयघोष मुनिको चंद्रबैरी ने बाणोंमे छेदित किया था उन्होंने अपनी स्थिरताको नही छोडा।

१० विद्युच्चोर नामक चोर मुनिव्रत धारण करने पर

कर्मोदय से खूब सताया गया परंतु वह अपने स्वीकृत व्रतों से चलायमान नही हुवा।

१२ चिलाति पुत्र मुनिराजके शरीरमें वेदना हुई जिससे उनके शरीरमें मोटे २ कीडे पड गये फिरभी उन्होंने समाधि नहीं त्यागी।

१३ दंडक नामक मुनिराजके शरीरको उनके शत्रु ने बाणोंसे घायल कर दिया लेकिन मुनिराज ने अपनी स्थिरता का त्याग नहीं किया।

१४ अभिनंदन आदि मुनिराजको दंडक राजा ने घानीमें पेल दिया। मुनिराजोंकी संख्या ५०० थी, परंतु उनमेंसे किसीने भी अपनी समाधिको नहीं छोडा।

१५ चाणक मुनिराजको गऔंके वाडेमें डालकर आग लगा दी उन्होंने अपनी स्थिरताको रंच मात्रभी नहीं छोडी।

१६ हस्तिनागपुरमें सातसौ मुनिराजों पर घोर उपसर्ग हुवा परतु मुनिराजोंने अपने धैर्यको नहीं छोडा।

१७ पांडव मुनिराजोंको लोहमयी आभूषण गर्म कर पहिना दिये गये, पर वे अपने ध्यानसे चलायमान नहीं हुए! इत्यादि और २ भी अनेक मुनिराज हुए हैं जिन्होंने कर्मोदयसे होने वाले भयंकर से भयंकर उपसर्गोंको सहन कर स्वर्ग मोक्षधाम प्राप्त किया।

हे आत्मन् तूं विचार कर ऐसे २ महापुरुषार्थियोंको

भी कर्मोंने पछाडने की कोशिश की फिर सामान्य आदमी की तो बात ही क्या है। अतएव तूं इन धनादिमें मूर्छाका परिहार कर। देख धनादिमें तृष्णा रखने वाले प्राणियोंकी क्या दशा होती है उसका भी विचार कर—

अर्थस्योपार्जने दुःखमर्जितस्य च रक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनम्॥

अर्थ-धनके कमानेमें, कमाये हुएकी रक्षा करनेमें, आयमें तथा व्यय करनेमें महान दुःख होता है इसलिये दुःखके कारण धनको धिक्कार है। ये भव्य प्राणी जिसके कमानेमें दिनरात घोर परिश्रमके साथ भूख प्यासके तथा सर्दी गर्मीके दुःख भोगता हुआ समय बिताता है, जिसके होनेमें अपनी मान बड़ाई समझता है जिसके लिये परस्पर वैर भाव कलह युद्धादि किये जाते हैं, जिसके बढानेके लिये हिंसादि पापोंमें अविचारित प्रवृत्ति की जाती है। जिसके होने पर विराने भी अपने होजाते हैं, जिसके मदमें आकर धर्माधर्मका विवेक नहीं रहता है वह धन आत्माका बड़ा अनिष्ट करने वाला है। इसलिये हे भाई श्रीगुरु इष्टोपदेशमें जो उपदेश देते हैं उसको भी सुनो-

शुद्धैर्धनैर्विवर्धते सतामपि न संपदः।
नहि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिंधवः॥

अर्थ—सज्जनोंकी संपदाएं शुद्ध धनोंसे बढती हैं ऐसी बात नहीं है। क्योंकि समुद्रमें चाहे जितना स्वच्छ जल क्यों न पहुंच जावे परंतु समुद्र कभी अघाता नहीं है। इसी तरह धनसे तृप्ति कभी होती नहीं है।

इसलिये हे आत्मन्! तू यही ख्यालकर कि तेरा स्वभाव इन धनादिसे बिलकुल भिन्न है अपने स्वभावको ही अपना मान। ये धनादि पुद्गल द्रव्य हैं इनसे तेरे स्वभाव का कोई संबंध नहीं है। परम पूज्य आचार्य प्रवर अमृतचन्द्राचार्य अपने नाटक समयसारमें कहते हैं—

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यंतविमुक्तमेकम्।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति॥

अर्थ—पर द्रव्य और पर द्रव्यके भाव तथा पर द्रव्यके निमित्तसे उत्पन्न होने वाले अपने विभाव भावोंसे सर्वथा भिन्न, संपूर्ण लोकालोकको जानने वाला, आदि अंतसे रहित, संपूर्ण भेदभावोंसे रहित एकाकार, जिसमें संपूर्ण संकल्प विकल्पके भाव नष्ट होगये हैं ऐसे आत्माके स्वभावको शुद्धनय प्रगट करता है। यहां पर संकल्प विकल्पका ऐसा अर्थ जानना चाहिये कि द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म आदि पुद्गल द्रव्योंमें आपा मानना संकल्प है और ज्ञेयोंके भेदसे ज्ञानमें भेद मानना विकल्प है। बनारसीदासजीने छंदोबद्ध समयसारमें ऐसा कहा है—

आदि अत पूरन स्वभाव संयुक्त है, पारस्वरूप परजोग कल्पना मुक्त है।
सदा एकरस प्रकट कही है जैनमें, सुद्ध नयातम वस्तु विराजै वैन में ॥

इससे यही निश्चय करना चाहिये कि तुम्हारा स्वभाव जब पर द्रव्योंसे भिन्न है तब ये कुटुम्ब आदि तो अपने आप भिन्न हैं अतएव जिस कुटुम्बके लिये तू दिन रात पाप करता है वे कुटुम्बी जन तेरे किसी कामके नहीं हैं। जब २ तेरे ऊपर कर्मके उदयसे विपत्ति आवेगी तब २ ये कुटुम्बी-जन कोई काम नहीं आवेंगे। सो ही कहा है।

जिस कुटुम्बके हेतुतें कीने बहुविध पाप।
वह कुटुम्ब इत रह गयो पडा नरकमें आप ॥

संसारमें यही एक विचित्र बात देखनेमें आती है कि कमाईके मालके भोगने वाले तो सभी कुटुम्बी हैं पर अशुभ गतियोंके दुःख पाप करने वालेको ही भोगने पडते हैं। एक अनुभवीका कथन है—

मेरी लक्ष्मी खानको कुटुबी भये अनेक।
अब या विपत्ति विलासमें सगा भया नहीं एक ॥

इससे हे आत्मन्! विचार करो तुम किसके लिये किन उपायोंसे धन कमाते हो। वे इस कमाये हुए धनको ये कुटुम्बीजन ही भोगेंगे तुम तो अकेले ही इस धनको छोड कर परलोक गमन करोगे। वहां पर शुभाशुभ कर्मोंके रस का अनुभव करोगे। अतएव इस मोह शृंखला को तोड

और अपने स्वरूपके ग्रहण करनेका निश्चय कर । क्योंकि तेरी ये असत्कल्पना है कि इन कुटुंबियोंमें से भी मरा कोई साथी होगा। अरे ये कुटुंब क्या तेरा साथी होगा जब कि दिन रात जिसका पालन पोषण किया जाता है ऐसी छायावत सगमें रहने वाली यह देह भी तेरे साथ नहीं जाती है। एक कवि ने कहा है—

देखो चिदानन्द राम ज्ञानदृष्टि खोलकर,
तात मात भ्रात सुत स्वारथ पसारा है।
तू तौ इन्हें आपामान ममता मगन भयौ,
बह्यौ भ्रम माहि जिन धरम बिसारा है।
यह तो कुटुंब सब दुख ही को कारन है,
तजि मुनिराज निज कारज विचारा है॥
तातैं गहौ धर्मसार स्वर्ग मोक्ष सुखकार,
सोई लहै भवपार जिन धर्म धारा है॥

तात मात सुत नारि सहोदर इन्हें आदि सबही परवार।
इनमें वास सराय सरीलो नदीनाव संयोग विचार॥
यह कुटंब स्वारथको साथी स्वारथ बिना करत है ख्वार।
तातै ममता छाडी सुजान गहौ जिनधर्म सदा सुखकार॥

कुटुंब पापके फल भोगनेमे कोई साथी नहीं है इस विषयकी एक कथा वैष्णव धर्ममें प्रसिद्ध है और वह इस तरहकी है—

एक वाल्या नामका भील था। वह एक जंगलके

चौराहे पर जाकर बैठ जाता था वहांसे जो कोई भी निकलता था वह भील उसके सब सामानको लूट लेता था उसके पास तीर कमान था। उसके डरसे सभी लोग अपना माल असबाव देकर चले जाते थे। एक दिन वहां एक साधुओंका संघ आ निकला। उस भीलने उनके साथ भी यही वर्ताव करना चाहा उस समय उन साधुओंने उस भीलसे कहा हे भाई जो तूं इस तरहका अन्याय कर पापसे धन कमाता है, इसके फलसे तू नरकमें जावेगा जहां तुझे बहुत समय तक कठोर यातनाएं भोगनी पडेगीं। इस बातको सुनते ही उस भीलके हृदयमें तीर सरीखा घाव लगा। उसने पूछा आप लोग ये बात कह रहे हैं। आपकी कही हुई बात मुझे कुछ भी नहीं जचती, जब मैं धन कमाकर ले जाता हूं तो उसका भोग तो मेरा सारा कुटंब करता है और पाप मैं अकेला ही क्यों भोगूंगा? जैसे हम लोग मिलकर द्रव्यका भोग करते हैं उसी तरह पापका उपयोग सभी लोग मिलकर करेंगे। तब एक साधुजीने कहा कि तूं जाकर उन लोगोंसे पूंछ कि जो मैं किसी उपायसे धन कमाकर लाता हूं उसके पापके भागी तुम लोग भी होते हो या नहीं? इस प्रश्नका वे लोग जो कुछ उत्तर दें वह हमें वापिस आकर सुनाओ। ऐसा सुनकर वह भील बोला-मालूम होता है ऐसा भुलावा देकर तुम लोग भाग

जाना चाहते हो मैं भी तुम्हारे दाव पचोंको अच्छी तरह समझ गया हूं। तब वे साधु महात्मा लोग बोले—तू हम लोगोंकी वृत्तिको नहीं जानता इसलिये ऐसा समझ गया, साधु कभी असत्य नहीं कहते, न किसीसे दावपेंचकी ही बात करते हैं। विश्वास रक्खो तुम्हारे वापिस आये बिना हम लोग यहांसे हट नहीं सकते तूं जाकर बडे ही संतोषसे अपने कुटंबियोंसे पूंछकर आ, इस बातसे उस भीलको विश्वास होगया और वह अपने गांवकी तरफ गया, वहां जाकर उसने अपने पितासे पूंछा पिताजी मैं जो धन कमा· कर लाता हूं उस पापमें भागीदार आप हो या नहीं? उत्तरमें पिताने कहा भाई तूं आज ऐसी बात क्यों पूछता है, जब तू बालक था तब हम कमाकर लाते थे उस पापके लिये तूंने आजतक कभी प्रश्न नहीं किया? फिर आज क्यों पूंछ रहा है? पिताका उत्तर सुनकर वह भील चुपकेसे अपनी माताके पास पहुंचा और उससे भी वैसा ही प्रश्न किया, माताने उत्तरमें कहा—बेटा जब मैंने तुझे नव मास तक उदरमें रक्खा तथा जन्म देनेके बाद बहुत दिनों तक गीलें सूखेमें सोकर तेरा लालन पालन किया बडी २ विप- त्तियां झेलीं तब तुझे ऐसी शंकाएं नहीं हुईं अब जब तेरी शादी विवाह हो गया कमाने लायक हो गया तब ऐसे प्रश्न करने लगा? अपनी माके ऐसे वचन सुनकर कुछ

शर्मीला होकर भील अपनी धर्मपत्नीके पास जाकर पूछने लगा-हे प्रिये तुम भी कहो कि जो धन मैं कमाकर लाता हूं उसमें जो पाप होता है उसमें पापकी भागिनी तुम भी हो या नहीं ? इस प्रश्नको सुनते ही वह स्त्री उत्तर देने लगी कि हे स्वामिन् आपका कार्य हमारा पोषण करना है और हमारा कार्य आपकी आज्ञा पालना है फिर बतलाइयें कि आपके कमायेका पाप मेरेको क्यों लगेगा ? और मेरा किया हुआ पाप आपको क्यों लगेगा ? यहांसे भी भील निराश होकर अपनी संतानके पास पहुंचा और उनके सामने भी वही प्रश्न रख दिया परन्तु उसकी संतानने ऐसा उत्तर दिया कि हे पिताजी जब कि आप शिशु अवस्थामें थे तब आपके माता पिताजीने आपसे ऐसा प्रश्न पूछा था क्या ? तब नहीं तो फिर आप हमसे ऐसा क्यों पूछते हैं ? इतना सुनते ही भील निराश होकर जहां तपस्वीजन ठहरे हुए थे वहीं पर पहुंचकर उसने अपने कुटुम्बकी सब कही हुई वार्ता सुनाई, सुनते ही साधु महात्माओंने फिर समझाया हे भाई अब तेरी समझमें आगया होगा कि जिस कुटुंबके लिये यह भोला प्राणी नानाप्रकारके पाप करता है उन पापोंके फलका भोक्ता वही अकेला होता है सारा कुटुंब तो माल खानेका ही साथी है। कुटुंबतो विपत्ति आनेपर साथ ही छोड देने वाला है इसलिये इस अधम

कृत्य करके तूं क्यों पापका भागी होता है ? इस बातको सुनकर भील पश्चाताप करने लगा और उसने उस कामको न करनेकी प्रतिज्ञाकी और साधु महात्माओंसे विनयकी कि भगवन अब आप हमारा उद्धार कीजिये और मुझे भी आप सरीखी दीक्षा दीजिये इसके उपरांत साधुओंने उसे संसारसे निवृत्त होनेका मार्ग बताया और वे लोग अपने अभीष्ट स्थानको चले गये । इस कथासे इतनीही शिक्षा लेनी चाहिये कि भव्योंको पापोंसे अपनेको बचाते हुए अपने आत्माके स्वरूपकी पहिचान करनी चाहिये । अब अपने आत्माका स्वरूप बतलानेको कहा जाता है—

नलिन्यां च यथा नीरं भिन्नं तिष्ठति सर्वदा ।
अयमात्मा स्वभावेन देहे तिष्ठति निर्मलः॥ परमानंद स्तोत्र

अर्थ—जिस प्रकार कमलके पत्र पर पडा हुआ पानी सर्वदा उससे भिन्नही रहता है उसी प्रकार यह आत्मा शरीरमें शरीराकार रहता हुवा भी शरीरसे भिन्न ही रहता है ऐसा इसका स्वभाव है । यह भी देहसे लिप्त नहीं होता है । हे आत्मन् तूं अब भी अपने उपयोगको स्थिर कर अपने स्वरूपका ही विचार कर, इन तमाम पर पदार्थोंसे अपना संबंध विच्छेद कर, जिससे तेरे साथ लगी हुई ये कर्म कालिमा धुलकर साफ हो जावे । सच बात तो ये है कि रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा शरीरादि

नोकर्म ये पुद्गलकी पर्यायें हैं, इनसे तो तुम्हारा रंचमात्रभी संबंध नहीं है। जिसको तूं आत्मा मानता है वही परमात्मा बन जाता है, तूं भी परमात्मा ही बन सकता है। पर अभी तक तूंने आपापरका भेद ज्ञान न कर अपनेको पहिचानने की कोशिश ही नहीं की। केवल संसारी झंझटोंमें फंसा पडा है इसीसे तेरी ये दशा हो रही है।

परमानंदस्तोत्रमें आत्मा (संसारी) की चिंताओंके चार भेद बतलाये हैं। तदुक्तं—

उत्तमा स्वात्मचिंता स्यान्मोहचिंता च माध्यमा
अधमाकामचिंता स्यात्परचिंताधमाधमा ॥

अर्थ— अपने आत्माका चिंतवन करना उत्तम चिंता है, प्रकृष्ट मोह अर्थात् शुभ रागसे दूसरे जीवोंके भले होने-की चिंता करना मध्यमा चिंता है, काम भोगोंका चिंतवन करना अधमा चिंता है, दूसरे जीवोंके अहित करनेका चिंतवन करना अधमाधमा चिंता है। इनमें से पहली चिन्ता ही ऐसी चिन्ता है जिससे आत्माका कल्याण हो सकता है बाकी चिन्ताएं संसारको ही बढाने वाली हैं। शिक्षा ये है कि दूसरोंका बुरा विचारनेसे अपना क्या भला हो सकता है। ऐसी चिन्तासे दोनों लोक बिगडते हैं। अज्ञानी जीव अधम और अधमाधम चिन्ताओंमें ही ज्यादा फंसे रहते हैं। ऐसी चिन्ताओंको आर्त रौद्रध्यान कहते हैं। शास्त्रोंमें

आर्त रौद्रध्यानका फल नरक और तियंच गतिके दुःख भोगना बतलाया गया है । अये आत्मन् ! तूं ऐसी चिन्ताओं का त्याग कर । तुझे तो निरंतर ऐसा ही अभ्यास करना चाहिये जिससे तूं तमाम सांसारिक पदार्थोंसे निर्ममत्व होकर अपने आपका चिन्तवन कर सके । तेरा रूप क्या है इसको सुन–

निर्विकारं निराबाधं सर्वसंगविवर्जितं ।
परमानंदसंपन्नं शुद्धचैतन्यलक्षणम् ॥

अर्थ– हे आत्मन् तेरा रूप राग, द्वेष, मोह, क्रोध मान, आदि विकारोंसे रहित है । अनेक प्रकारकी सांसारिक बाधाओंसे मुक्त है, बाह्य दश और अभ्यंतर चौदह ऐसे चौबीस प्रकारके परिग्रहसे रहित है, उत्कृष्ट स्वात्मोत्थ और आत्मा से ही साध्य ऐसे आनंदसे परिपूर्ण, शुद्ध केवलज्ञान रूप चैतन्य ही जिसका लक्षण है ऐसा तेरा रूप है । तुझे अपने स्वरूपका ऐसा ही श्रद्धान करना चाहिये । अन्य प्रपंचोंमें तुझे नहीं फंसना चाहिये, क्योंकि जो अन्य प्रपंचोंमें फंस जाते हैं बे न तो अपने स्वरूपको ही पा सकते हैं और न संसार से बाह्य हो सकते हैं । उपयोग ऐसा चंचल है कि वह कहीं न कहीं अपना कार्य करता ही रहता है, कभी विषयोंमें उलझ जाता है, कभी शुभ रागमें और कभी विशुद्ध परिणति रूप हो जाता है । जो कषाय

रूप परिणमन कर जावे तो वह किसी समय भी अपना भला नहीं कर सकता है। कहा भी है–

कषायै रंजितं चेतस्तत्त्वं नैवावगाहते।
नीलीरक्तेऽम्बरे रागो दुराधेयो हि कौंकुमः॥

अर्थ—कषायोंमें रंगा हुवा चित्त वस्तुके असली स्वभावको कभी नहीं निश्चय कर सकता है, जैसे नील रंगसे रंगे हुए वस्त्र पर कसूमल रंग अपनी आभा नहीं दिखला सकता है। जहां कषाय है वहीं संसार है। जहां कषाय नहीं है वहीं पर सच्चा आत्मिक सुख है। यह जीव जो अनादि कालसे लेकर आज तक जन्म मरणके दुःख उठाता आ रहा है उसका कारण कषाय ही हैं। इसलिये हे आत्मन् इस कषायका ही त्याग करना अपना हित मान। नरक निगोदके जो भयंकर दुःख भोगने पडते हैं उसमें कषाय ही कारण है। इसलिये हे भव्यो जिस दुर्लभ मनुष्य भवको तुमने बडी ही कठिनतासे प्राप्त किया है उसका उपयोग तत्वज्ञानके करनेमें करो, इन कषाय चोरों के द्वारा दूषित मत होने दो। जरा विचार तो करो-महान पुण्यकर्मके उदयसे स्वर्गमें इंद्र पर्याय रूप परिणत जीव इस अमूल्य मनुष्य पर्यायके पानेके लिये कितना लालायित रहता है, वह इतना लालायित इसलिये रहता है कि जिस संयम की आराधना करके यह जीव तीन लोक का

पूज्य तीर्थंकर पद वा सिद्धपद मिलता है वह मनुष्य पर्याय से ही मिलता है। अब तुम्हारी समझमें आ गया होगा कि मनुष्य पर्याय के प्राप्त करने को क्यों इतना आग्रह किया जाता है। इसलिये अब भी तू सम्हल जा। एक विद्वानने आत्माके रूपके जाननेके लिये कहा है-

परमाल्हादसंयुक्तं रागद्वेषविवर्जितम्।
अर्हन्तं देहमध्ये तु यो जानाति स पंडितः॥

अर्थ—हे आत्मन् ऊपर कहे अनुसार परमानंद स्वरूप राग द्वेष रहित, अर्हंत देवको जो ज्ञानी पुरुष अपने हृदयमें विराजमान हुवा देखता जानता है, वही विद्वान वा समझदार है, ऐसे जीवकोही सच्चे सुखकी प्राप्ति होती है। इसलिये अपने आत्माको स्वतंत्र वा परमात्मा समझकर उसी तरहकी प्रवृत्ति करो, यही बात आगेकी कवितामें बतलाई जाती है।

दोहा—आप आपके रूपको जानै सौ शिव होय।
परमें अपनी कल्पना करैं भ्रम जग सोय॥१॥
जो परमातम सिद्धमें सोई या तन मांहि।
मोह मैल दृग लगि रह्यो तातैं सूझैं नांहि॥१॥
मोह मैल रागादिका ज्या छिन कीजे नाश।
ता छिनमें परमातमा आपहिं लहैं प्रकाश॥३॥
काहे को भटकत फिरे सिद्ध होनके काज।

राग द्वपको त्याग दे येही सुगम सुमाज ॥४॥
जैसो शिवक्षेत्रहिं वसे वैसो या तन मांहिं ।
निश्चय दृष्टि निहारतें भेद रंच कछु नाहिं ॥५॥
आतम परमातमविषैं शक्ति व्यक्तिको भेद ।
नातर उभय समान हैं कर निश्चय तजि खेद
उलट भावतें बंध है शिव स्वभावतें जान ।
बंध मोक्ष परिणामसे कारण और न आन ॥७॥
जप तप संयम तब भलौ राग द्वेष जब नाहि ।
राग द्वेष के जागते वे सब व्यर्थहि आंहि ॥८॥
दोष आतमको यहै राग द्वेपके संग ।
जैसैं पास मजीठके वस्त्र औरहि रंग ॥९॥
तैसे आतम द्रव्यको रागद्वेषके पास ।
कर्म रंग लागत रहै कैसे लहै प्रकाश ॥१०॥
रागद्वेषके नाशतें परमातम परकाश ।
रागद्वेषके भापते परमातम पद नाश ॥११॥
कर्मनकी जड राग है राग जरें जर जाय ।
प्रगट होत परमातमा ये ही सुगम उपाय ॥१२
इन कर्मनको जीतवो कठिन बात है मीत ।
जड खोदे विन नहिं खुदे, दुष्ट जात विपरीत ॥
लछो पत्तोके कियें ये मिटवेके नांहि ।
ध्यान अगिन प्रचलायकर होम देहु तिहि मांहि

हे भव्यात्मन् ऊपरकी कारिकायें पढ कर बिचार तो सही, आचार्य तुझे तेरा स्वरूप प्राप्त करनेके लिए क्या अच्छी शिक्षा देरहे हैं। यहां आचार्य यह शिक्षा देरहे हैं कि संसारकी जड राग द्वेष है राग द्वेष ही कर्मबन्धके कारण हैं। ऊपर तूने इस बातको अच्छी तरह जान लिया है कि इस संसारमें इस आत्माको दुख देनेवाले कर्म हैं ये कर्म राग द्वेषसे आत्माके साथ सम्बद्ध होते हैं। नाटक समयसारमें कहा गया है कि—

कर्मजाल वर्गणासौं जगमें न बंधे जीव।
बंधै न कदापि मन वच काय जोगसौं॥
चेतन अचेतनकी हिंसासौं न बंधे जीव।
बंधे न अलख पंच विषै विष रोगसौं॥
कर्मसौं अबन्ध सिद्ध जोगसौं अबन्ध जिन।
हिंसासौं अबन्ध साधु ज्ञाता विषै भोगसौं॥
इत्यादिक वस्तुके मिलापसौं न बन्धे जीव।
बंधै एक रागादि अशुद्ध उपयोगसौं॥

मतलब ये है कि कार्माणवर्गणा, योग, हिंसा, इन्द्रियों के विषय भोग जगमें यही कर्मबन्धके कारण कहे जाते हैं, परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि जहां सिद्ध भगवान ठहरे हैं वहां एक नहीं, दो नहीं, किन्तु अनन्तानन्त कार्माण जाति की पुद्गल वर्गणायें भरी हुई हैं, परन्तु वे रागादिके बिना

सिद्धोंकी आत्माके साथ बन्धको प्राप्त नहीं होती हैं। तेरहवें गुणस्थानमें भगवान अर्हंतके मन वचन कायके योग रहते हैं, परन्तु उनकेभी राग द्वेषके न होनेसे कर्मोंका बन्ध नहीं होता है। महाव्रती मुनिराजोंसे अबुद्धिपूर्वक हिंसा हो जाती है, परंतु उनके भी राग द्वेष न होनेस कर्म बंध नहीं होता है। सम्यग्दृष्टि जीव अव्रती रहते हुए पांचों इन्द्रियोंके विषयोंको भोगते हैं पर उनमें उनकी आशक्ति न होनेसे कर्मबंध नहीं होता, किंतु संवर निर्जरा होती है। इससे ये बात सिद्ध होती है कि कार्माण वर्गणाएं योग हिंसा और पंचेन्द्रिय विषय इनके निमित्तसे नहीं बंधती हैं। उनके बंध होनेमें केवल अशुद्ध उपयोगही कारण है। कविवर द्यानतरायजीनेभी कहा है—

राग द्वेषतैं आपही परै जगतके मांहि।

ग्यानभावतैं सिव लहै दूजा संगी नाहिं॥

इस छंदमें भी द्वेषको ही संसारका कारण तथा कर्मबंधका कारण बतलाया है। अत एव राग द्वेषको ही तू अपनी आत्मासे भिन्न करनेकी कोशिश कर, क्योंकि राग द्वेष तेरी आत्माके रूप नहीं हैं तेरी आत्माका रूप तो शुद्ध चैतन्यही है। यही बात एक कविने अपने छन्दमें कही है—

राग द्वेष मोह भाव जीवको सुभाव नाहि।

जीवको स्वभाव सुद्ध चेतन बखानिये॥

अतएव विचार तूं, खूब विचार, तेरा रूप तो कुछ है और इन राग द्वेषने क्या बना रक्खा है ? आगे फिर कहते हैं-

कर्मनके संयोगतैं भयो तीन + प्रकार।

+ आत्मा तो एक ही प्रकारका है परन्तु कर्मकृत अवस्थाके कारण तीन प्रकार कहा गया है। यथा—

बहिरातम अन्तर आतम परमातम जीव त्रिधा है।

अर्थात्—आत्मा तीन प्रकारका माना गया है। एक बाहिरातम दूसरा-अंतरातम और तीसरा परमातम।

वहिरातम ताकौ कहै लखै न ब्रह्म स्वरूप।

मगन रहै पर द्रव्यमें मिथ्यावंत अनूप॥

अर्थात्—जिसको आत्मा और परका भेद अनुभव या प्रतीतिमें नहीं आता, जो शरीरको ही आत्मा मान बैठा है और जो पर पदार्थमेंही मग्न रहता है वह मिथ्यादृष्टि वहिरात्मा कहलाता है।

निज परका अनुभव करै पर तज ध्यावै आप।

अंतरातमा जीव सो नाश करै त्रयताप॥

जिस आत्माको आपा परकी भेद प्रतीति हो जाती है वह सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा कहलाता है।

सुद्धातमको ग्रहण कर जो निज माहिं समाय।

वह आतम परमातमा जीवन मुक्त कहाय॥

जिस आत्माके अशुद्धभाव दूर हो गये हैं और निज स्वभावमें जो स्थित हो गया है तथा जिसके अनंत गुण प्रगट हो गये ह वह परमात्मा अर्हंत देव जीवन मुक्त कहलाता है।

एक आत्मा द्रव्यकौ कर्म नचावन हार ॥

हे आत्मन् देख कैसी २ युक्तियों से वा शास्त्र प्रमाण से तुझे समझाया कि संसारका कारण राग द्वेष मोह हैं, परन्तु तू ऐसा अज्ञानी हो रहा है कि इन रागादिको छोडता तो नहीं है बल्कि उनमे चिपटता ही है। इससे तो यही समझमें आता है कि तेरा भला होना बहुत मुश्किल है। आगे फिर तुझे समझानेको कहा जाता है-

दोहा-ज्यौं दारुके गंजको नर नहीं सकै उठाय।

तनिक अग्नि संयोगतें छिन इकमें उड जाय ॥

राग द्वेषको त्यागकें धर परमातम ध्यान।

ज्यौं पावै मित्र सम्पदा भया इम कल्यान ॥

जौं सुद्धातम अनुभवै त्याग उपाधिक भाव।

शीघ्र मुक्तिपदको लहै यो जिनवर दरसाव ॥

हे भव्य जीव हो! देखो हजारों मनके बारूदके ढेर को उठानेके लिए कितना समय और कितने आदमियोंकी जरूरत पडती है परंतु जरासी अग्निके बतातेही उस ढेरका एक क्षण में पता भी नहीं लगता। उसी तरह तुम आत्म-ध्यान रूपी अग्निका यदि सेवन करने लग जाओ तो इन रागादिक वैभाविक भावोंका पताभी न लगे कि वे कहां चले गये। इसलिए तुझको अपने आत्मरूपके पहिचाननेका प्रयत्न करनाही श्रेयस्कर है। सो हे भव्य तुझे इसीका

सेवन करना चाहिये।

अब विचारना चाहिये कि बंड २ आचार्योंने शास्त्रों में आत्माको ऊपर उठनेका ही उपाय बतलाया है सारे ग्रन्थोंमें संसारसे छूटनेकी और मुक्ति प्राप्त करनेकीही प्रेरणा की गई है। जिसको यह जीव खूब वांचता है सुनता है लेकिन फिरभी इसका उद्धार क्यों नहीं होता है ! इस बात का जब हम विचार करते हैं तो यही निश्चय होता है कि इस जीवके पीछे कोई ऐसी चीज लगी हुई है जिससे ये जीव प्रयत्न करता हुआभी अपने मार्ग से विचालित हो जाता है, या विपरीत प्रयत्नको सत्प्रयत्न समझ लेता है। वह चीज क्या हो सकती है ! ऐसा विचार करने पर निश्चय हो जाता है कि वह चीज मिथ्यात्वही हो सकता है, क्योंकि मिथ्यात्वही आस्रव बंधका कारण है और मिथ्यात्वका अभाव अर्थात् सम्यक्त्व संवर, निर्जरा तथा मोक्षका कारण है, मोक्ष आत्माका निज स्वभाव अर्थात् जीवकी कर्ममल रहित अवस्था है। जीव अज्ञानी मिथ्यात्वी कैसे होता है ? इस प्रश्नका उत्तर ऐसा जानना चाहिये कि जैसे कोई मनुष्य दूसरेकी चीज पर अपना अधिकार जमाना चाहता है तो उस मूर्ख को लोग अन्यायी कहते हैं। यदि वह अपनीही संपत्तिका उपयोग करता है तो लोग उसे

न्यायशील कहते हैं। उसी प्रकार जबतक यह जीव पर द्रव्योंमें अहंकार ममकार करता है तबतक अज्ञानी मिथ्या-दृष्टि रहता है, जब ऐसी खराब आदतको छोडकर आध्यात्मिक विद्या का बार बार अभ्यास करता है, तथा आत्मिक रसका स्वाद लेता है, तब प्रमादको छोड कर पुण्य पापका भेद हटा देता है और क्षपक श्रेणी चढ कर केवली भगवान बन जाता है, पीछे थोडे ही समय बाद आठ कर्मोंसे रहित होकर अष्ट गुणोंका अधिपति होकर सिद्ध पद प्राप्त कर लेता है। सिद्ध पद प्राप्त होजाने पर आत्मिक सुखकी प्राप्ति होजाती है। ऐसे सुखकी कि जिस का वियोग फिर कभी भी नहीं होने पाता है। रागी आत्माएं सांसारिक पदार्थोंके मिलनेमें सुखका अनुभव करते हैं पर विरागी आत्मा तमाम पर पदार्थोंके त्याग करने तथा सन्तोष धारण करनेमें सुख मानते हैं। इसलिए हे भव्यो! राग द्वेषके त्यागनेके लिए आत्मासे भिन्न परपदार्थों के संयोगका त्याग जरूर करो। देखो जब किसी जीवका मनुष्य पर्याय रूपमें जन्म होता है उस समय जीवके साथ सिवाय एक शरीरके और कोई चीज नहीं रहती है, जन्म होजानेके बाद जैसा २ मोह जाग्रत होने लगता है वैसी २ आत्म स्वरूपसे विमुखता होकर परपदार्थोंके संयोग करनेकी तीव्र लालसा बढने लगती है, जैसी २ लालसा बढती जाती

है वैसी परपदार्थोंके मिलानेकी रुचि उत्कृष्ट होने लगती है। उस रुचिमें तीन लोक समा जाते हैं पर तृप्ति नहीं होपाती है। इसलिए यदि तुम्हें कुछ भी विवेक है, तुम कुछ भी अपना भला करना चाहते हो तो श्री सद्गुरुकी आज्ञा मानो उन्होंने जैसा अपने स्वरूपके प्राप्त करनेका मार्ग बतलाया है उसी मार्गका अवलम्बन करो, उसीसे तुम्हारा भला होगा। पर दुःख है कि कर्मोदयके वशवर्ती ये संसारी प्राणी गुरुओंकी शिक्षाकी अवहेलना कर दिन रात हाय २ में ही फंस रहे हैं। इनको धर्मका लेश भी नहीं सुहाता है ये तो धनोपार्जनादि कार्योंमें ऐसे गरक होरहे हैं मानों उन्हींसे इनका उद्धार होजाने वाला है। सो ठीक ही है जिनका संसार दीर्घ काल तक रहना है उनको तो धर्म के वचन या सद्गुरुओंकी श्रेष्ठ शिक्षाएं पित्त ज्वर वालेको दूधकी तरह कटुक ही मालूम होती हैं। ये जरूर है कि संसारमें रहते हुए जीविकोपार्जनका उपाय तो करना ही पडता है, बल्कि करना ही चाहिए, पर दिन रात धनोपार्जन में ही लगे रहना और धर्मको बिलकुल छोड देना ये ठीक नहीं है, किसी विद्वान ने कहा है कि—

कला बहत्तर पुरुषकी तामें दो सरदार।
एक जीवकी जीविका एक जीव उद्धार॥

पुरुषके करनेके लिए बहत्तर तरहकी कलायें बतलाई

गई हैं परन्तु उनमें दो कलाय मुख्य कही गई हैं (१) जीव की जीविकाका उपाय, दूसरी जीवके उद्धार होनेकी कला। गृहस्थोंको तीन पुरुषार्थ अविरोध रूपसे सेवन करते रहनेकी आज्ञा आचार्योंने की है। वे तीन पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ और काम हैं। एक विद्वान ने कहा है कि —

त्रिवर्गसंसाधनमन्तरेण पशोरिवायुर्विफलं नरस्य।
तत्रापि धर्मं प्रबलं वदन्ति न तं विना यद्भवतोर्थकामौ ॥

अर्थ–धर्म, अर्थ, काम इन तीन पुरुषार्थोंका अविरोध रूपसे सेवन न करने वाले पुरुषकी मनुष्यायु बिलकुल पशुके समान व्यर्थ है। उन तीन पुरुषार्थोंमेंभी धर्मकी खास प्रधानता है। क्योंकि अर्थ और काम-पुरुषार्थ बिना धर्मपुरुषार्थके नहीं होसकते हैं। इससे ऐसा निश्चय करना चाहिये कि धन कमाते हुए तथा उसका उपयोग करते हुए धर्मको नहीं भुला देना चाहिये। कभी २ ऐसाभी देखा जाता है कि लोग पुण्य कर्मके उदयसे खूब धनादि की प्राप्ति करके धर्मसे पराङ्मुख हो जाते हैं, और कहने लगते हैं कि पुण्य कर्मके सम्बन्धसे यदि हमने धन प्राप्त किया है तो अपने मनके माफिक उसका उपभोग क्यों न कर लेवें? ऐसे विचारके लोग धनके मदमें आकर धर्मको बिलकुल त्याग देते हैं, यहां तक कि देवदर्शन पात्रदानादिसेभी दूरवर्ती होजाते हैं, उनको आचार्य ऐसी शिक्षा देते हैं कि भाई पुण्यकर्मके

उदयसे यदि धनादि विभूति प्राप्त की है तो उसका उपयोग करो पर, धर्मका ध्यान रखते हुए ही धनादिका उपयोग करो। जैसा कि वज्रनाभि चक्रवर्ती की बारह भावनामें कहा गया है—

बीज राखि फल भोगवे ज्यों किसान जगमांहि।
त्यों चक्री सुखमें मगन धर्म विसारै नांहि॥

धन प्राप्त करके जिसने पात्र दानादि कार्य नहिं किये किंतु अपना भरण पोषण करनाही लक्ष्य रक्खा उसको आचार्य शिक्षा देते हैं कि—

भर लेते हैं पेट सभी जिनके संगमें है काया!
पुरुषसिंह है वही भरै जो पेट पराया॥

हे आत्मन् तूने मोहवश जिनको अपना पुत्र, पुत्री, स्त्री, माता आदि माना तथा उन कुटुम्बियोंका पालन पोषण किया, सो ये कार्य तो सभी संसारी जीव करते हैं यदि तुमने भी वैसा किया तो उसमें क्या चतुराई की, इस का नाम चतुरता नहीं है, चतुराई तो इसमें है कि तूं ऐसा प्रयत्न कर जिससे हमेशाके लिये जनम मरणके फन्देसे छूट जावे। ऐसी उचित हालतमें भी यदि तूने ऐसा प्रयत्न नहीं किया तो फिर भी उसी जनम मरणके मार्ग पर जाना होगा, इसलिए तूं नीचे लिखे उपदेशको ग्रहण कर–क्यों कि

विनजानैं तो दोषगुननको कैसे तजिये गहिये।

अर्थात विपरीत रीतिको तो छोडना और अनुकूल रीतिको ग्रहण करना यही दोष गुणकी पहिचान है। अब यही बतलाया जाता है कि विपरीत रीति क्या है? अनादि कालसे लेकर अबतक इस जीवने अपने चिंतवनमें आर्तध्यान और रौद्रध्यानको ही अपनाया जिसका कि फल नरक और तिर्यंच गतियोंमें भयंकर रूपसे प्राप्त करता आया है। इसलिये हे भाई अब मैं यहां पर ध्यानोंका वर्णन करता हूं सो ध्यानसे सुनकर इनका त्याग वा ग्रहण कर।

सबसे पहिले मैं ध्यानका स्वरूप उसके भेद और उनका फल वर्णन करता हूं सो तू सुन—

उत्तम संहननवाले पुरुषके अन्तर्मुहूर्त पर्यंत एकाग्रतासे चिंताका निरोध करना ध्यान है। संहनन छह प्रकारके होते हैं-बज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलक और असप्राप्तासृपाटिका। इन छहोंमें पहिले तीन सहननवालोंके ध्यान हो सकता है, सोभी अन्तर्मुहूर्ततकही रहता है। मोक्ष होनेका कारण एक वज्रवृषभनाराच संहन-नही होता है। ध्यानके चार भेद होते हैं १)आर्त २)रौद्र ३)धर्म्य और ४)शुक्ल। इनमेंसे—

आर्तं रौद्रं च दुध्यानं वर्जनीयमिदं सदा।
धर्म्यं शुक्लंच सद्ध्यानं बुधा देयं मुमुक्षुभिः॥

आर्तध्यान और रौद्रध्यान ये दोनों ध्यान दुर्ध्यान

या खोटे ध्यान हैं इसलिये इन दोनों ध्यानोंका हमेशा त्याग करना चाहिये। धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान ये दोनों श्रेष्ठ ध्यान हैं इसलिये मोक्ष प्राप्त करने के अभिलाषियोंको हमेशा उनका ध्यान करना चाहिये क्योंकि ये दोनों ध्यान उपादेय हैं।

अब संक्षेपमें इन्हींका वर्णन किया जाता है—

आर्त ध्यान चार प्रकारका है—उनमेंसे शत्रु, विष, कंटक आदि अप्रिय पदार्थका संयोग होने पर उनके दूर करनेके लिये बार २ विचार करना सो अनिष्ट संयोगज नामका पहिला आर्तध्यान है। स्त्री, पुत्र, धन आदि इष्ट पदार्थों का वियोग होने पर उनकी प्राप्तिके लिये बार २ चिंतवन करना सो इष्ट वियोगज नामका दूसरा आर्तध्यान है। रोग जनित पीडा का बार २ चिंतवन करना उनके दूर करनेको विलाप करना सो वेदना जनित तीसरा आर्त-ध्यान है। तथा आगामी कालमें विषय भोगादिकी वांछा करना और उसी विचारमें लीन रहना सो निदान नामका चौथा आर्तध्यान है।

यह आर्तध्यान पहिले गुणस्थानसे लेकर छट्टे गुण-स्थानवर्ती जीवोंके हो सकता है। इसका फल अशुभ गति-योंके दुख भोगना है।

रौद्रध्यान भी चार तरहका होता है। (१) हिंसानंदी

(२) मृषानंदी (३) चौर्यानंदी [४] परिग्रहानंदी।

हिंसाके कार्योंमें आनंद मानकर उन्हींके सिद्ध करने का चिंतवन करते रहना हिंसानंदी रौद्रध्यान है। झूठ बोलनेमें आनंद मानना और झूठ ही का चिंतवन करते रहना सो मृषानन्दी रौद्रध्यान है।

चौरी करनेमें तथा उसके चिंतवनमें सदैव मनका लगाना सो चौर्यानंदी रौद्रध्यान है।

परिग्रहकी रक्षा करने तथा उसके प्राप्त करते रहनेका चिंतवन करनेको परिग्रहानंदी कहते हैं। ये परिग्रहही महान अनर्थका कारण है इससे ही लोभादि कषाय जाग्रत होते हैं जिनके होनेसे यह आत्मा ऐसी वैभाविक परिणतिमें फँस जाता है जिससे अनंत संसार फलता है। जितने झगडे होते हैं उन सबका कारण परिग्रहही है। यह रौद्रध्यान पहिले गुणस्थानसे पांचवें गुणस्थान तक होता है। इससे अशुभ गतियोंमें दुःख भोगने पडते हैं।

ऊपर बतलाया ही गया है कि ये दोनों ध्यान अशुभ गतियों के ही कारण हैं।

अब परंपरासे वा साक्षात् मोक्षके कारणभूत ऐसे धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानका वर्णन करते हैं—

धर्म्यध्यान भी चार प्रकारका होता है–१. आज्ञाविचय २. अपायविचय ३. विपाकविचय और ४. संस्थान-

विचय।

शास्त्रकी आज्ञानुसार अर्थका विचार करना सो आज्ञा-विचय धर्म्यध्यान है।

ये संसारी प्राणी सन्मार्गमें कैसे आंयगे, किस प्रकार कुमार्गका त्याग करेंगे इस विचार में एकाग्र मन लगाना अपायविचय धर्म्यध्यान है।

कर्मके फलके अनुभवका चिंतवन करना विपाकविचय धर्म्यध्यान है।

लोकके आकारका और उसकी रचनाका विचार करना संस्थानविचय धर्म्यध्यान है।

धर्म्यध्यान के और भी चार भेद होते हैं—पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत।

मनमें कमलका आकार स्थापित कर फिर कर्मोंकी प्रकृतियों को उस कमलकी पांखुरियोंपर स्थापितकर अग्नि की ज्वालादिके विचारसे उन्हें भस्म करना और फिर वायु-मंडलसे उडाना इस तरह कल्पित तत्त्वोंपर अपने मनको एकाग्रकर उसका स्तंभन करना सो पिंडस्थ धर्म्यध्यान है।

पंचपरमेष्ठीके नमस्कार मंत्रका ध्यान करना सो पदस्थ धर्म्यध्यान है!

अर्हत देवका उनके गुण शरीरादिक और आत्मीक भावों सहित विचार करना सो रूपस्थ धर्म्यध्यान है।

केवल शुद्ध आत्माका विचार करना सो रूपातीत धर्म्यध्यान है। कर्मोंकी निर्जरा होना तथा आगामी कर्मोंका न आना अर्थात् संवर होनाही इन चारों ध्यानोंका फल है। मोक्षका मूल कारण जो शुक्लध्यान है वह केवल सकल श्रुतको धारण करनेवाले श्रुतकेवली और केवलीके ही होता है। वह भी चार प्रकारका होता है- पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति। इनमेंसे पहिले दोध्यान तो श्रुतकेवलीके होते हैं और पिछले दोनों ध्यान निर्मल केवल ज्ञानसे विभूषित केवलीके होते हैं। पहिला ध्यान तो मन, वचन, काय इन तीनों योगोंके द्वारा होता है। दूसरा इन तीनों योगोंमेंसे किसी एकके द्वारा होता है। तीसरा काययोगके द्वारा होता है। चौथा किसी योगसे नहीं होता है वह अयोगकेवलीके ही होता है।

पहिले दोनों ध्यानोंमें परिपूर्ण श्रुतज्ञान ही होना चाहिए और ये दोनों ध्यान शास्त्र पर अवलम्बित हैं तथा विषयसे विषयान्तर सहित हैं। पहिला विषयसे विषयान्तर सहित है और दूसरा विषयान्तर रहित है। तीसरे चौथे शुक्लध्यानमें न तो योगोंका ही अदल बदल है और न श्रुतका ही अवलम्बन है क्योंकि उन दोनों ध्यानोंके आधार केवली भगवान हैं।

मोहनीय कर्मके क्षय होने बाद ज्ञानावरण, दर्शना-

वरण और अंतराय ये तीनों कर्म क्षय होते हैं और तभी केवल ज्ञानकी प्राप्ति होती है, उसके पीछे वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार अघातिया कर्मोंका नाशकर देने से मोक्षप्राप्त होता है। इनका नाश शुक्लध्यानसे होता है और यह शुक्लध्यान केवल अपने शुध्दस्वरूप आत्मामें निश्चय ज्ञानके द्वारा अथवा वार २ किये हुए ध्यान और आचरनके द्वारा बाह्याभ्यंतर क्रियाओंका रुकना अर्थात् शुद्धात्माकी केवल आत्मस्वरूप ही परिणति होने लगना जिसको निश्चय चारित्र कहते हैं, प्राप्त होता है। इसीकी प्राप्तिसे केवलज्ञान और मोक्षकी प्राप्ति होती है। ऐसा ध्यान केवल महाव्रत धारण करनेवाले मुनीश्वरके ही हो सकता है और उन मुनीश्वरोंमें भी ऐसे मुनीश्वरके होता है जो शुद्ध उपयोगको धारण करने वाले हैं. पदार्थोंके स्वरूपको भलीभांति जानते हैं, राग द्वेषसे रहित हैं, सुख दुःखादिमें कभी हर्ष विषाद नहीं करते हैं, जो जिस स्वरूपमें ही लीन रहते हैं और चिदानन्दके ज्ञान सुधारसमें सदैव मग्न रहते हैं।

तिरियगई अट्टेण णरयगई तह रउद्द झाणेण।
देवगई धम्मेण सिवगइ तह सुक्कझाणेण॥

जिन चार प्रकारके ध्यानका वर्णन ऊपर किया गया है उनके धारण करनेसे आर्तध्यानसे तिर्यंच गति, रौद्रध्यान से नरक गति, धर्मध्यानसे देवगति, और शुक्लध्यानसे शिव

गति प्राप्त होती है फिर इसी तत्त्वको स्पष्ट करनेको कहते हैं

अट्ट रउद्दं झाणं तिरिक्खणारयदुक्खसयकरणं ।

चइउण कुणइ धम्मं सुक्कज्झाणं च किं बहुणा ॥

हे आत्मन् ! आर्तध्यानसे तो तिर्यंच गति होती है और रौद्रध्यानसे नरक गति मिलती है इन गतियोंमें भगवान समान यह जीव नाना प्रकारके दुःखोंका सामना करता है । इसलिए हे आत्मन् ! इन दोनों ध्यानोंको दुःख का साधन समझ कर सर्वथा त्याग करो तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यानका अभ्यास करो जिससे तुझे उस प्रकारके दुःखोंका सामना न करना पडे । इसी बातको फिर बतेलाते हैं ।

सुत्तत्थधम्ममग्गणवयगुत्तीसमिदिभावणाईणं ।

जं कीरइ चिंतवणं धम्मज्झाणं च इह भणियं ॥ ज्ञानसार॥

सुत्रार्थ, १४ मार्गणा (गति १ इन्द्रिय २ काय ३ योग ४ वेद ५ कषाय ६ ज्ञान ७ संयम ८ दर्शन ९ लेश्या १० भव्यत्व ११ सम्यक्त्व १२ संज्ञित्व १३ और आहारक १४) दश धर्म [उत्तमक्षमा १ मार्दव २ आर्जव ३ सत्य ४ शौच ५ संयम ६ तप ७ त्याग ८ आकिंचन ९ ब्रह्मचर्य) पांच विरति (अहिंसा १ सत्य २ अचौर्य ३ ब्रह्मचर्य ४ परिग्रहत्याग ५) तीन गुप्ति (मनगुप्ति १ वचनगुप्ति २ कायगुप्ति ३) समिति पांच (ईर्यासमिति १ भाषासमिति २

एषणा ३ आदाननिक्षेपण ४ प्रतिष्ठापना ५) बारह भावनाएं (अनित्य १ अशरण २ संसार ३ एकत्व ४ अन्यत्व ५ अशुचि ६ आस्रव ७ संवर ८ निर्जरा ९ लोक १० बोधि-दुर्लभ ११ और धर्मभावना १२) इनका चिंतवन करना धर्म्यध्यान कहलाता है । अब इनका पृथक् २ खुलासा करते हैं—

१ उत्तम क्षमा–क्रोध नहीं करना तथा संसारके तमाम जीवोंसे मैत्री भावका होना उत्तम क्षमा कहलाता है। अगर किसी जीवने कर्मके उदयसे किसी जीवके साथ कोई तरहका दुर्व्यवहार रूप गाली देना, मारना आदि किया हो तो उसको सुनकर या सहकर मनमें क्लेश न करते हुए उसको क्षमा कर देना सो ही क्षमा धर्म है।

२ उत्तममार्दव—मानकषायको जीतना ही मार्दव धर्म है। इस धर्मको धारण करनेकी यही परीक्षा है कि जिस समय कोई अन्य पुरुष किसी प्रकारके गर्वके आवेश में आकर अनादर कर देवे तो उस समय अपनी आत्मामें अनादर करने वालेके प्रति किसी प्रकारके प्रतिकार करनेकी भावना नहीं होना और तत्त्व स्वरूपका चिन्तवन करते हुए उसको सहन कर जाना ही मार्दव धर्म है।

३ उत्तम आर्जव—माया कषायका जीतना आर्जव धर्म है। मन वचन कायको सरल रखना, किसीके प्रति

कपट भाव नहीं रखना, मनमें जैसे भाव हों उन्हींको वचनसे प्रगट करना तथा वैसीही कायकी चेष्टा करना सो आर्जव धर्म है।

४ उत्तम सत्य—सर्वथा झूट बोलनेका त्याग करना सत्यधर्म है। हित मित प्रिय प्रमाणीक वचन बोलना, निंद्य गर्ह्य और अवद्यवचन नहीं बोलना, दूसरोंकी आत्मा में संक्लेश उत्पन्न करनेवाले वचन नहीं बोलना. जो जैसा हो उसको वैसाही कहना सत्यधर्म है।

५ शौचधर्म—तत्त्वविवेक पूर्वक लोभ कषायका त्याग करना शौचधर्म है। शरीरकी सफाई रखना, स्नान करना, तेल फुलैल लगाना, साफ कपडे पहिनना शौच नहीं है असली शौच तो हृदयसे लोभका त्याग करनाही शौचधर्म है क्योंकि लोभही सपूर्ण पापोंका जनक है।

६ संयमधर्म—छह कायके जीवोंकी रक्षा करना तथा पांचों इन्द्रियों और मनको वशमें करना इसीका नाम संयम है। संयमही तमाम कर्मोंका नाश करने वाला है इसीसे आत्मा निर्मलता होती है। बडे २ पुण्यात्मा तीर्थंकरोंने भी इसी संयमसे सिद्धपद प्राप्त किया। ऐसा दुर्लभ संयम मनुष्य भवमेंही धारण किया जा सकता है।

७ उत्तम तप—इन्द्रियों और मनके विषयोंमें उत्पन्न होनेवाली अभिलाषाओंको रोकना तथा आत्मामें रहने वाले

कषाय रूपी मलके शोधनेके लिए संयम रूपी अग्निको प्रज्वलित करना तप है। लोभ कषायके उदयसे नाना प्रकार की इच्छायें पैदा होती हैं जो इच्छाये आत्माको संयमसे दूर रखती हैं ऐसी इच्छाओंका रोकना ही तप है। तप दो प्रकारका होता है। (१) बाह्य (२) आभ्यन्तर। जो तप बाह्य जनोंके अनुभवमें आजावे वह बाह्य तप है। जो अपनी आत्मामें ही किया जाय वह आभ्यन्तर तप है। बाह्य तप छः प्रकारका होता है—अनशन (संयमकी सिद्धि, रागका उच्छेद, कर्मका नाश, ध्यान और स्वाध्यायकी सिद्धि, इन्द्रियोंका विजय, कामका नाश, निद्रा, प्रमादके विजयके लिए भोजनका त्याग करना) अवमौदर्य (संयमका पालन, निद्राका विजय, त्रिदोषका उपशम, आलस्यका अभाव, कायोत्सर्गकी दृढता, ध्यानकी निश्चलता, आदिके लिए अल्प आहार करना, अर्ध भोजन, चतुर्थांश भोजन एक ग्रास पर्यंत लेना) वृत्तिपरिसंख्यान (संयमी मुनिका एक गृह पांच वा सात गृहमें भोजनके लिए नियम करना तथा एक मुहल्ला, दो मुहल्ला तथा रास्ता चौहटा आदिका नियम, दातारके भोजनका नियम कर भोजनके लिए नगर ग्रामादिकमें जाना, संकल्पके अनुसार भोजन मिले तो लेना नहीं वापिस अपने स्थानको जाना और उपवास धारण करना) रस परित्याग (इन्द्रिय दमन, तेजकी हानि, संयमका घात दूर

करनेके लिए जो घृत दुग्ध दही तैल गुड लवण ऐसे छः प्रकारके रसका त्याग करना) विविक्त शय्यासन (प्राणियों की पीडा रहित प्रासुक क्षेत्रमें निवास करनेकी इच्छा करने वाले साधुका एकान्तमें ब्रह्मचर्य स्वाध्याय ध्यानादिकी सिद्धिके लिए शयन आसन करना) । कायक्लेश (शरीरमें ममत्वके त्यागी जिनेन्द्रके मार्गमें अविरोधी ऐसा अनेक प्रकारका कायका कष्ट रूप तप करना जैसे-कठोर भूमिमें बहुत समय तक एक आसनकी अचलतासे ठहरना, मौन धारण करना, ग्रीष्म ऋतुमें पर्वतकी शिखर पर अचल कायोत्सर्गादिक धारण कर तीव्र आतापन योग धारण करना वर्षा ऋतुमें वृक्षके नीचे वर्षाकृत घोर बाधा सहना, शीत ऋतुमें नदीके तीर तथा चौहट पर दृढ शय्यासन कर रात्रि व्यतीत करना, सर्प, बिच्छू, कानखजूरे, डांस इत्यादि जन्तुओं द्वारा की गई बाधा तथा दुष्ट मनुष्य व्यंतरादि देव, सिंह व्याघ्रादि द्वारा की आई तीव्र बाधाओंको सहना) आभ्यंतर तपभी छह प्रकारके होते हैं-प्रायश्चित्य (प्रमाद वा अज्ञानता से उत्पन्न दोषोंको अपने गुरुके सामने प्रगट कर उसका शोधन करना) विनय तप (सन्मान पूर्वक जिन सिद्धान्तोंका ग्रहण अभ्यास करना, निःशंकितादि गुण सहित शंकादि दोष रहित तत्वार्थका श्रद्धान करना, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानके धारियोंके पांच प्रकार चारित्रके श्रवण मात्रसे रोमांचादि

सहित अन्तरंगमें भक्ति उपजना, चारित्रके अंगीकार करनेमें परिणाम करना तथा पूजन योग्य आचार्यादिकके प्रत्यक्ष होने पर उठ खडे होना, प्रणामांजुलि करना, उनके पीछे २ चलना, परोक्ष नमस्कार करना आदि) वैयावृत्य तप (काय की चेष्टासे वा अन्य द्रव्यसे आचार्यादिककी सेवा टहल करना सो वैयावृत्य है) स्वाध्याय तप (निर्दोष ग्रन्थ तथा ग्रन्थके अर्थ अथवा दोनोंका विनयवान धर्मके इच्छुक भव्य पात्रको सिखाना, पढाना, आपको शब्दमें शब्दके अर्थमें सन्देह उत्पन्न हुवा हो तो विनय सहित बहुश्रुतज्ञानियोंसे प्रश्न करना, गुरुओंकी परम्परासे जाने हुए अर्थको मनसे अभ्यास करना, बारबार चिन्तवन करना, इस लोक सम्बंधी फलको नहीं चाहता हुआ शीघ्रता और विलम्ब रूपसे जो घोषणाके दोष उनसे रहित पाठ करना, दुष्ट प्रयोजनके त्यागसे उन्मार्गसे दूर करनेके लिए, सन्देह दूर करनेके लिए अपूर्व पदार्थके प्रकाशनेके लिए धर्मका कथन रूप उपदेश करना) व्युत्सर्ग तप (बाह्य और आभ्यन्तर ऐसे २ प्रकारके परिग्रहका त्याग करना) यही तप धर्म है।

८ त्यागधर्म--दश प्रकार (क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य-चांदी, सुवर्ण-सोना, धन-पशु आदि, धान्य-अनाज, दासी-दास कुप्य-कपडादि, भाण्ड-वर्तन) का बाह्य परिग्रह और १४ प्रकार (मिथ्यात्व १ क्रोध २ मान ३ माया ४ लोभ

५ हास्य ६ रति ७ अरति ८ शोक ९ भय १० जुगुप्सा ११ स्त्रीवेद १२ पुरुषवेद १३ और नपुंसकवेद) का त्याग इस प्रकार २४ प्रकारके परिग्रहका त्याग करना त्याग-धर्म है ।

९ आकिञ्चन धर्म—आत्मस्वरूपसे भिन्न जो शरीरादिक उनमें संस्कारादिकके अभावके निमित्त 'ये हमारा, ऐसा ममत्वरूप अभिप्रायका अभाव सो आकिञ्चन्य धर्म है।

१० ब्रह्मचर्य धर्म - पहिली जो नाना प्रकारके कला-गुणोंसे चतुर रमी स्त्रियोंका अनुभव किया हो इस समय उनके स्मरण करनेका त्याग, तथा स्त्रीमात्रकी कथा श्रवण करनेका त्याग, रस सुगंधादिसे वासित स्त्रियोंके संसर्गसहित शय्याआसनादिकके संसर्गका त्याग करना तथा विषयानु-राग सहित होकर ब्रह्म जो अपना शुद्ध आत्मा उसमें चर्या कहिये प्रवर्तना सो ब्रह्मचर्य है । इस प्रकार कर्मोंको रोकने के लिये दश प्रकारके धर्मोंका अनुभवन करना चाहिये। ये धर्म आत्माके ही अंग है आत्मासे भिन्न नहीं है ।

आगे चौदह प्रकारकी मार्गणाओंका वर्णन करते हैं—

१ गतिमार्गणा—गतिनामा नामकर्मके उदयसे जीव देव मनुष्य तिर्यंच और नारक रूपमें जन्म मरणके दुःख उठाता है और अरहटकी घडीकी तरह गतिसे गत्यंतरमें चक्कर लगाया ही करता है जहां जीवको एक निमेषमात्रभी

साता नहीं है केवल अनंत दुखोंका पात्र ही बना रहता है।

२ इन्द्रियनामा नामकर्मके उदयसे यह जीव स्पर्शन रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन इन्द्रियोंकी उपलब्धि करता है। जो इन्द्रियां अपने २ योग्य विषयोंको ग्रहण करती हैं। इन्द्रियोंमें सबसे उत्कृष्टरूपसे विषय ग्रहण करनेकी शक्ति नेत्र इन्द्रियकी होती है और वह चक्रवर्तीकी होती है। क्योंकि चक्रवर्तीके महान पुण्यकर्मका उदय होता है। परंतु इन्द्रियोंके विषयोंने उसकोभी शांतिसे नहीं रहने दिया तो अन्य सामान्य व्यक्तियोंका तो कहना ही क्या है।

शब्दः शक्तिः हरणे स्पर्शे नागो रसे च वारिचरः।
कृपणः पतंगो रूपे, भूजंगो (मधुपो) गंधेन च विनष्टः॥

दोहा-मृग अलि मीन पतंग गज एक एकमें नाश।
जिनके पांचों घट वसें उनकी कैसी आश॥

अर्थ-एक एक इन्द्रियके वशीभूत होकर जीवोंने इस संसारमें महान दुख उठाया है फिर विचार करो कि जिन जीवोंके पांचों इन्द्रियोंके विषय लग रहे हों उनकी क्या दशा होनी चाहिये। ये इन्द्रियां ही संपूर्ण पापोंकी जननी हैं। इनको तृप्त करनेके लिये जीवको बड़े २ अनर्थ करने पडते हैं।

कायमार्गणा-जातिनामकर्मके अविनाभावी त्रस और स्थावर नामकर्मके उदयसे होने वाली आत्माकी पर्यायको

काय कहते हैं । इस कायके छह भेद होते हैं-पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस । व्यवहारमें काय जीवके ठहरनेके आधार भूत ढांच को कहते हैं । यह ढांचा बादर और सूक्ष्म दो तरहका होता है, सूक्ष्म तो वे जीव हैं जिन का शरीर इतना सूक्ष्म होता है कि वह न तो किसीसे रुकता है और न किसी अन्यको रोकता है। और बादर इससे विपरीत होते हैं । जीवके साथ शरीरका सम्बन्ध अनादिकालसे है और जब तक मुक्ति न होजावेगी बराबर बना ही रहेगा। यह शरीर चौदहों गुणस्थानोंमें जीवके साथ पाया जाता है इसकी अवगाहना छोटी बडी सब तरहकी होती है । शरीर दुःखका घर है, इसीमें पांचों इन्द्रियां होती हैं जिनका वर्णन ऊपर आ चुका है ।

योगमार्गणा—पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्मके उदयसे मन वचन कायसे युक्त जीवकी जो कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारणभूत शक्ति है उसको योग कहते हैं । आत्माकी अनंत शक्तियोंमें एक योग शक्ति भी है । वह दो प्रकारकी होती है-एक द्रव्यरूप दूसरी भावरूप । योगकी चंचलतासे जो आत्मामें हलन चलन रूप क्रिया होती है उससे नवीन कर्मोंका आस्रव होता है । और आस्रवसे बंध होता है आस्रव बंध दोनों आत्माके दुखके कारण हैं । यह योग चार प्रकारका भी होता है--सत्य, असत्य, उभय और

अनुभय। सम्यग्ज्ञानके विषयभूत पदार्थको सत्य कहते है, मिथ्याज्ञानके विषयभूत पदार्थको असत्य कहते हैं जैसे मरीचिकाको जल कहना। दोनोंके विषयभूत पदार्थको उभय कहते हैं जैसे कमंडलुमें "यह घट है" क्योंकि कमंडलु घटका काम देता है इसलिये कथंचित् सत्य है और घटाकार नहीं है इसलिये असत्य है। जो दोनों प्रकारके ज्ञानका विषय न हो उसको अनुभय कहते हैं जैसे सामान्य रूपसे ऐसा मालूम करना कि "यह कुछ है" यहां सत्य असत्यका कुछ भी निर्णय नहीं है इसलिये ऐसे ज्ञान को अनुभय कहते हैं।

वेद मार्गणा—पुरुष, स्त्री और नपुंसक वेद कर्मके उदयसे भाव पुरुष, भाव स्त्री भाव नपुंसक होता है और नाम कर्मके उदयसे द्रव्य पुरुष, द्रव्य स्त्री और द्रव्य नपुंसक होता है। सो यह भाव वेद और द्रव्य वेद प्रायः कर के समान ही होता है परन्तु कहीं २ विषम भी होजाता है इसका विशेष कथन गोमटसारसे जानना चाहिए।

कषाय मार्गणा—जीवके सुख दुःखादि अनेक प्रकारके धान्यको उत्पन्न करनेवाले तथा जिसकी संसार रूप मर्यादा अत्यन्त दूर है ऐसे कर्म रूपी क्षेत्र (खेत) का यह कर्षण करता है इसलिए इसको कषाय कहते हैं। अथवा सम्यक्त्व देशचारित्र, सकल चारित्र और यथाख्यात चारित्र रूप

परिणामोंको कष-घात न होने दे उसको **कषाय कहते हैं।** इसके अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन इस प्रकार चार भेद हैं। इनके भी क्रोध मान माया लोभके भेदसे चार २ भेद होते हैं इस प्रकार कषायके उत्तर भेद सोलह होते हैं सम्यक्त्वको रोकने वाली अनंतानुबंधी कषाय है, देशचारित्रको रोकने वाली अप्रत्याख्यानावरण कषाय, सकलचारित्रको रोकने वाली प्रत्याख्यानावरण कषाय तथा यथाख्यात चारित्र को रोकने वाली संज्वलन कषाय होती है। क्रोध चार प्रकारका होता है-- पत्थरकी रेखाके समान, पृथ्वीकी रेखाके समान तीसरा धूलिकी रेखा समान, चौथा जलकी रेखा समान मान भी चार प्रकारका होता है–पत्थरके समान, हड्डीके समान, काष्ठके समान, तथा बेंतके समान। माया भी चार प्रकारकी होती है–बांसकी जड़के समान, मेंढेके सींगके समान, गौमूत्रके समान, खुरपाके समान, । लोभ भी चार प्रकारका होता है—क्रमि रागके समान, गाडीके ओंगनके समान, शरीरके मलके समान, हल्दीके रंग समान, । चारों कषाय यथाक्रमसे नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतिमें उत्पन्न कराते हैं। ये संसार कषायसे ही चलता है। आत्मन्! जब तक तेरे साथ ये कषाय हैं तब तक तुझे कभी भी सच्ची शांतिके स्थानका लाभ नहीं हो सकता है।

संसारका प्राण कषाय है जो जीव कषाय रहित होजाते हैं वे एक मिनट भी अशान्त नहीं रह सकते कषाय जिनकी सत्ता से निकल जाती हैं वे नियमसे उसी भावसे मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं इसलिए अपना हित सोचकर तूं कषायका त्याग कर।

ज्ञानमार्गणा—जिसके द्वारा जीव त्रिकालविषयक समस्त द्रव्य और उनके गुण तथा उनकी अनेक प्रकारकी पर्यायोंको जाने उसे ज्ञान कहते हैं। इसके दो भेद होते हैं एक प्रत्यक्ष दूसरा परोक्ष। ज्ञानके पांच भेद भी होते हैं-मति· ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इनमेंसे शुरुके चार ज्ञान क्षायोपशमिक होते हैं। अतका केवलज्ञान क्षायिक होता है। आदिके तीन ज्ञान सम्यक् और मिथ्या दोनों तरहके होते हैं। ज्ञानके मिथ्या होनेका अंतरंग कारणमिथ्यात्व तथा अनंतानुबंधी कषायका उदय है। मिथ्या अवधिको विभंगभी कहते हैं। चौथे गुणस्थान से आगेके गुणस्थानोंमें सम्यग्ज्ञान होकर तेरहवें के शुरुमें ही पूर्ण सम्यग्ज्ञान हो जाता है। अवधिज्ञान चौथेसे बारहवें तक तथा मनःपर्ययज्ञान छट्टे गुणस्थानसे बारहवें गुणस्थान तक होता है। पहिले तीन ज्ञान यदि मिथ्या हैं तो तीसरे गुणस्थानतक होंगे यदि सम्यक् हैं तो चौथेसे बारहवें गुण- स्थानतक होंगे। ज्ञानही आत्माका रूप है। ज्ञानके समान जीवको सुख देनेवाला दूसरा पदार्थ नहीं। जितने मोक्ष

गये हैं, जा, रहे आगे जांयगे वे सब ज्ञानके प्रभावसे ही इस प्रकारकी दशाको पाते हैं। विशेष जाननेके अभिलाषी गोमटसारकी ज्ञानमार्गणाका स्वाध्याय करें।

संयममार्गणा—अहिंसा, अचौर्य, सत्य, शील, अपरिग्रह इन पांच महाव्रतोंको धारण करना, पांच समितियोंका पालन करना, चार कषायोंका निग्रह करना, मन, वचन काम रूप दंडका त्याग, तथा पांच इन्द्रियोंका जय करना, छह कायके जीवोंकी रक्षा करनाही संयम है। बादर संज्वलनके उदयसे अथवा सूक्ष्म लोभके उदयसे और मोहनीय कर्मके उपशम अथवा क्षयसे नियमसे संयम रूप भाव उत्पन्न होते हैं। संयम पांच प्रकारका होता है— सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यातचारित्र। जो संयमके विरोधी नहीं ऐसे बादर संज्वलन कषायके देश घाति स्पर्धकोंके उदयसे सामायिक छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धि ये तीन चारित्र होते हैं, इनमें से परिहारविशुद्धि संयम तो प्रमत्त और अप्रमत्तमें ही होता है किन्तु बाकीके दोनों प्रमत्तादि अनिवृत्तिकरण पर्यंत होते हैं। सूक्ष्मकृष्टिको प्राप्त संज्वलन लोभके उदयसे सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवर्ती संयम होता है। यथाख्यात चारित्र नियमसे मोहनीय कर्मके उपशम अथवा क्षयसे ही होता है। संयमका विशेष वर्णन ऊपर आचुका।

दर्शन मार्गणा—

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं ।
अविसेसदूण अट्ठ दंसणमिदि भण्णये समये ॥

अर्थ—सामान्य विशेषात्मक पदार्थके विशेष अंशका ग्रहण न करके केवल सामान्य अंशका जो निर्विकल्प रूपसे ग्रहण होता है उसको परमागममें दर्शन कहते हैं। इसका शब्दों द्वारा प्रतिपादन नहीं हो सकता है। इसके चार भेद होते हैं–चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवल-दर्शन। चक्षरिन्द्रिय मतिज्ञानके पहिले जो सामान्य अवलोकन होता है उसको चक्षुदर्शन कहते हैं। चक्षुइन्द्रियके सिवाय बाकी इन्द्रियोंके द्वारा उत्पन्न मतिज्ञानके पहिले होने वाले सामान्य अवलोकनको अचक्षुदर्शन कहते हैं। अवधिज्ञान होनेके पूर्व समयमें अवधिके विषयभूत परमाणु से लेकर महा स्कन्ध पर्यन्त मूर्त द्रव्यको जो सामान्य रूप से देखता है उसको अवधिदर्शन कहते हैं। समस्त पदार्थों का जो सामान्य दर्शन होता है उसको केवलदर्शन कहते हैं।

लेश्यामार्गणा—जिसके द्वारा जीव अपनेको पुण्य पापसे लिप्त करे, पुण्य पापके आधीन करे उसे लेश्या कहते हैं, अथवा कषायोदयसे अनुरक्त योगप्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं। कषाय और योग इन दोनोंके जोडको लेश्या कहा है इसलिए लेश्याका कार्य बंधन चतुष्क है। क्योंकि बंनध-

चतुष्कमेंसे प्रकृति और प्रदेश बंध योगके द्वारा होता है और स्थिति अनुभाग बंध कषायसे होता है। जहां पर कषायोदय नहीं होता वहां पर केवल योगको उपचार से लेश्या कहते हैं। इसीलिये वहां पर उपचरित लेश्याका कार्यभी केवल प्रकृति प्रदेश बंध होता है। स्थिति अनुभाग बंध नहीं होता है। लेश्या के दो भेद होते हैं एक द्रव्य दूसरी भाव लेश्या। वर्ण नामकर्मके उदयसे जो शरीरका वर्ण होता है उसे द्रव्य लेश्या कहते है। इसके छह भेद होते हैं कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल। तथा प्रत्येकके उत्तर भेद अनेक हैं। कृष्ण लेश्या भ्रमरके समान होती है, नीललेश्या नीलमके समान होती है, कापोत लेश्या कबूतर के समान होती है। पीत लेश्या सुवर्णके समान होती है, पद्मलेश्या कमल के समान होती है शुक्ल लेश्या शंख के समान होती है। संपूर्ण नारकी कृष्णवर्ण ही होते हैं, कल्पवासी देवोंकी द्रव्यलेश्या और भावलेश्या एकसी होती है, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषि, मनुष्य और तिर्यंच इनकी छहों लेश्याएं होती हैं। विशेष जाननेके अभिलाषी सिद्धांत ग्रन्थोंका स्वाध्याय करे।

भव्यमार्गणा—जिन जीवोंकी अनन्त चतुष्टयरूप सिद्धि होने वाली हो अथवा जो उसकी प्राप्तिके योग्य हैं उनको भव्य कहते हैं। जिनमें इन दोनोंमें से कोई भी

घटित न होता तो उसको अभव्य कहते हैं। कितने हो भव्य ऐसे हैं कि जो मुक्ति प्राप्तिके योग्य तो हैं परन्तु कभी मुक्त न होंगे, जैसे बन्ध्यापनेके दोपसे रहित स्त्रीमें पुत्र उत्पन्न करनेकी योग्यता तो है परन्तु उनके कभी पुत्र उत्पन्न नहीं होगा। कोई भव्य ऐसे हैं जो नियमसे मुक्त होंगे। जैसे बंन्ध्यापनसे रहित स्त्रीके निमित्त मिलने पर पुत्र उत्पन्न होता है। इन दोनों स्वभावोंसे रहित अभव्य होता है, जैसें बन्ध्या स्त्रीको निमित्त मिले या न मिले उसमें पुत्र उत्पन्न नहीं हो सकता है। ऐसे बहुतसे कनकोपल हैं जिनमें निमित्त मिलने पर शुद्ध स्वर्ण रूप होनेकी योग्यता है परंतु उनकी इस योग्यताको आभव्यक्ति कभी नहीं होगी अथवा जिस तरह अहमिंद्र देवोंमें नरकादिमें गमन करनेकी शक्ति है परंतु उस शक्तिकी अभिव्यक्ति कभी नहीं होती, इसी तरह जिन जीवोंमें अनन्त चतुष्टयको प्राप्त करनेकी योग्यता है परन्तु उनको वह प्राप्त कभी नहीं होगी उनको भवसिद्ध कहते हैं ऐसे जीव सदा संसारमें ही रहते हैं। जिनका पांच परावर्तन रूप संसार हमेशाके लिए छूट गया है और जो मुक्ति सुखके भोक्ता हैं उन जीवोंको न तो भव्य समझना चाहिये और न अभव्य समझना चाहिये। क्यों कि उनको अब कोई नवीन अवस्था प्राप्त करना शेष नहीं रहा है इस लिये वे भव्य नहीं हैं और अनन्त चतुष्टयको

प्राप्त होचुक इसलिए अभव्य भी नहीं हैं ।

सम्यक्त्वमार्गणा—छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, नव पदार्थ, इनका जिनेद्रदेवने जिस प्रकारसे वर्णन किया है उस ही प्रकारसे इनका श्रद्धान करना सम्यक्त्व कहलाता है। यह दो प्रकारसे होता है। एक केवल आज्ञासे, दूसरा अधिगमसे। 'जीवादि द्रव्योंका जिनेद्रदेवने जैसा स्वरूप कहा है वास्तवमें वही सत्य है' इस प्रकारका बिना युक्तिसे निश्चय किये ही जो श्रद्धान होता है उसको आज्ञासम्यक्त्व कहते हैं। तथा इनके विषयमें प्रत्यक्ष परोक्षरूप प्रमाण, द्रव्यार्थिक आदिनय, नाम स्थापना आदि निक्षेप आदिके द्वारा निश्चय करके जो श्रद्धान होता है उसको अधिगम सम्यक्त्व कहते हैं। अथवा सम्यक्त्वके तीन भेद और होते हैं—उपशमसम्यक्त्व क्षयोपसमसम्यक्त्व और क्षायिकसम्यक्त्व। मिथ्यात्वकी तीन प्रकृति-मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व तथा अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ ऐसी चार प्रकृति, दोनों मिल कर सम्यक्त्वकी विरोधनी सात प्रकृतियां हुई इन सातोंके उपशम होनेपर जो सम्यक्त्व होता है उसको उपशम सम्यक्त्व कहते हैं। यह सम्यक्त्व वैसा निर्मल होता है जैसे गंदले पानीमें निर्मली डालने पर जल निर्मल होता है। उपशम सम्यक्त्व और क्षायिकसम्यक्त्व निर्मल-

ताकी अपेक्षा समान दर्जे के हैं। क्योंकि विरोधी कर्मके उदयका अभाव दोनों जगह समान है। किंतु विशेषता इतनीही है कि क्षायिक सम्यक्त्वके विरोधी कर्म की सत्ताका सर्वथा अभाव हो गया है, जब कि उपशम सम्यक्त्वमें प्रतिपक्षी कर्मकी सत्ता रहती है। उपशम सम्यक्त्व होनेके पहिले पांच लब्धियां होती हैं उनका स्वरूप लिखने पर ग्रन्थका रूप बढता है इसे अन्य ग्रन्थोंसे जानना चाहिये मिथ्यात्व, मिश्र और अनंतानुबंधी चतुष्क इनका सर्वथा क्षय अथवा उदयाभावी क्षय और उपशम हो चुकने पर तथा सम्यक्त्व प्रकृतिके उदय होनेपर पदार्थोंका श्रद्धान होता है उसको वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। दर्शन मोहनीय कर्मके क्षय होजानेपर जो निर्मल श्रद्धान होता है उसको क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। यह सम्यक्त्व नित्य और कर्मोंके क्षय होनेका कारण है। यद्यपि दर्शनमोहनीयके मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्प्रकृति ऐसे तीन ही भेद हैं तथापि अनंतानुबन्धी कषायभी दर्शन गुणको विपरीत करता है इसलिये इनको भी दर्शनमोहनीय कहते हैं। इसीसे कहा गया है कि "सप्तैते दृष्टिमोहनम्" अतएव सात प्रकृतियोंके सर्वथा क्षय होनेपर दर्शनगुणकी जो अत्यन्त निर्मलता होती है उसको क्षायिकसम्यक्त्व कहते हैं। इसके विरोधी कर्मका जरा भी अंश बाकी नहीं रहता है इससे

यह सम्यक्त्व और सम्यक्त्वोंके समान शान्त नहीं है। दर्शनमोहनीयकर्मके क्षय होजाने पर उसी भवमें या तीसरे चौथे भवमें नियमसे जीव सिद्ध पदको प्राप्त कर लेता है। चौथे भवका उल्लंघन किसी तरह नहीं होता है। सम्यक्-दर्शन संसार समुद्रको पार होनेके लिए जहाजके खेवटियाके समान हैं। मोक्षमहलकी प्रथम सीढी है इसके बिना ज्ञान और चारित्र मिथ्या कहे जाते हैं! सम्यक्त्वको धारण करने से ही मनुष्य भव सफल होता है।

संज्ञी मार्गणा—नोइन्द्रियावरणीकर्मके क्षयोपशमको या उससे उत्पन्न ज्ञानको संज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा जिसके हो उसको संज्ञी कहते हैं। जिनके ऐसी संज्ञा न हो किन्तु यथायोग्य इन्द्रिय ज्ञान हो उन्हें असंज्ञी कहते हैं। अथवा लब्धि और उपयोग रूप मन जिनके पाया जाय उन्हें संज्ञी कहते हैं और जिनके मन न हो उन्हें असंज्ञी कहते हैं। हितका ग्रहण और अहितका त्याग जिसके द्वारा किया जा सके उसको शिक्षा कहते हैं। इच्छापूर्वक हाथ पैरके चलानको क्रिया कहते हैं। वचन अथवा चाबुक आदिके द्वारा बतलाए हुए कर्तव्यको उपदेश कहते हैं, श्लोक आदिके पाठको आलाप कहते हैं। जो जीव इन शिक्षादिकको मनके द्वारा धारण करते हैं उन्हें संज्ञी कहते हैं, इनसे विपरीत असंज्ञी कहे जाते हैं। महान् पुण्यकर्मके

उदयसे उच्चगोत्रके कर्तव्यशील संज्ञियोंमें जन्म होता है। संज्ञियोंमें [illegible] करते हैं।

आहारमार्गणा—शरीरनामा नामकर्मके उदयसे देह वचन और द्रव्य मन रूप बननेके योग्य नोकर्मवर्गणाका जो ग्रहण होता है उसको आहार कहते हैं। औदारिक, वैक्रियिक, आहारक इन तीन शरीरोंमें से किसी भी एक शरीरके योग्य वर्गणाओंको तथा वचन और मनके योग्य वर्गणाओंको यथायोग्य जीवसमास तथा योग्यकालमें जीवग्रहण करता है इसलिए उसको आहारक कहते हैं। विग्रहगतिको प्राप्त होने वाले चारों गतिके जीव, प्रतर और लोकपूर्ण करनेवाले सयोगकेवली और अयोगकेवली, समस्त सिद्ध ये तो अनाहारक ही होते हैं। इनको छोडकर शेष जीव आहारक होते हैं। इस प्रकार यहां तक संक्षेप रूपसे चौदह मार्गणाओंका वर्णन किया अब पांच महाव्रतोंका वर्णन किया जाता है—

हिंसा, झूठ, चौरी कुशील और परिग्रह ये पांच पाप कहे जाते हैं इनको मोटे रूपसे त्यागना अणुव्रत कहलाता है, सर्वथा त्याग करना महाव्रत कहलाता है। जिनकी कषायका दमन उस हद तक नहीं हो सका है जिससे महाव्रत धारण कर सकें वे अणुव्रतोंको अंगीकार करते हैं। जो संसार शरीर और पंचेन्द्रियोंके विषयोंके स्वरूपको भली-

भांति समझ कर उनसे उदासीन होजाते हैं वही व्यक्ति महाव्रत धारण करते हैं। महाव्रत पांच प्रकारके होते हैं- अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत और परिग्रहत्याग महाव्रत।

अहिंसा महाव्रत—जहां मन वचन काय कृत कारित अनुमोदनासे छह कायके जीवोंकी पूर्ण रूपसे रक्षा कीजावे उसे अहिंसा महाव्रत कहते हैं। छः कायमें ५ स्थावर— पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक और एक त्रसकायिक हैं। त्रसकायिकके भी पांच भेद हैं परन्तु उनकी यहां विवक्षा नहीं है। त्रस की व्युत्पत्ति निम्न प्रकारसे है कि जो जीव भयके निमित्त से इधर उधर चलें फिरें तथा खाना पीना ढूंढते फिरें हिता-हितका विवेक कर भी सकें और न भी कर सकें ऐसे द्वी-न्द्रियको आदि लेकर त्रस कहलाते हैं। इन त्रस जीवोंमें एक विशेषता और भी पाई जाती है कि जिन जीवोंमें हड्डी मांस मज्जा मेदा वीर्य कफ आदि पाये जाते हैं उन्हें त्रस कहते हैं। त्रस जीव पांच प्रकारके होते हैं-द्वीन्द्रिय वे जीव जिनके स्पर्शन रसना ये दो इन्द्रियां हों जैसे शंख गिडोल आदि। २ त्रीन्द्रिय वे जीव हैं जिनके द्वीन्द्रियसे घ्राणेन्द्रिय ज्यादा हो जैसे कीडा, मकोडा, बिच्छू, खटमल आदि। ३ चतुरिन्द्रिय वे जीव हैं जिनके चक्षु भी हो जैसे मक्खी,

भारा, बर्र, ततइया आदि। ४ असैनी पंचेन्द्रिय जिनके इन्द्रियां तो पांचों ही हों पर मन न हो। जैसे कोई २ पनिया सांप, हरेला तोता आदि। ५ सैनी पंचेन्द्रिय-जिनके पांचों इन्द्रियोंके साथ मन भी हो। जैसे-मनुष्य, देव, नारकी, सिंह, गाय, हाथी आदि। सैनीके फिर दो भेद होते हैं। एक गर्भज दूसरे सम्मूर्छन। गर्भज जीव तीन तरहके होते हैं- एक जरायुज दूसरे अण्डज तीसरे पोत। जिनके शरीर पर जेरसी लिपटी रहती है ऐसे मनुष्यादि जरायुज कहलाते हैं। जो अण्डोंसे पैदा होते हैं उन्हें अण्डज कहते हैं। जन्मते ही उछलने-कूदने वालोंको पोत कहते हैं जैसे सिंह व्याघ्रादि। सम्मूर्छन उन्हें कहते हैं जिनका शरीर माता पिताके रज वीर्यसे उत्पन्न न होकर इधर उधरके परमाणुओंको शरीर रूप परिणमा लेते हैं। जैसे बिच्छू आदि। इनके और भी कई भेद होते हैं। अब इन जीवोंका और भी खुलासा करते हैं-जैसे एकेन्द्रिय जीव पांच प्रकारके होते हैं। इनमें पृथ्वी-जीव और वनस्पति जीव तो स्थिर ही रहते हैं अपने स्थान से चलायमान नहीं होते। जल अग्नि और वायु ये तीनों स्थावर जीव अपनी योग्यताके अनुसार इधर उधर संचरण भी करते हैं जैसे नीची पृथ्वीमें जल चलायमान रहता है। हवाके निमित्तसे अग्नि इधर उधर चली जाकर कई पदार्थों को भस्मसात् कर देती है। वायु तो सदा विचरण करती

रहती है। इन तीनों प्रकारके स्थावरोंको इस प्रकारके विचरण करनेसे उन्हें त्रस नहीं कह सकते, क्योंकि इन जीवोंके स्थावरनामा नामकर्मका उदय रहता है। इसलिए स्थिर रहनेकी अपेक्षा स्थावर नहीं कहलाते किन्तु जिनके स्थावर नामा नामकर्मका उदय होता है वे चाहे स्थिर हों अथवा चलायमान रहते हों उन्हें स्थावर ही कहते हैं।

रहे त्रस जीव सो उनके इधर उधर फिरनेसे उनका नाम त्रस नहीं रक्खा है। क्योंकि उन जीवोंके त्रस नामा नामकर्म का ही उदय है उसीसे त्रस कहलाते हैं। यदि चलने फिरनेसे त्रस कहलावें तो जो सोए हुए हैं या गर्भावस्थामें हैं या मूर्च्छित हैं उन्हें त्रस नहीं कह सकेंगे।) इसलिय यह बात सिद्ध हुई कि चलने फिरनेकी अपेक्षा त्रस नहीं कहलाते किंतु जिनके त्रसनाम कर्मका उदय होता हैं वे किसी भी दशामें हों उन्हें त्रसही कहा जायगा ऐसा भगवान कुंदकुंदने पंचास्तिकाय नामक ग्रन्थमें कहा है। इस प्रकार यहां पर दश प्रकारके जीवोंका कथन किया जो त्रस स्थावर के ही भेद हैं। इनकी जो नवकोटीसे रक्षा करना है सोही अहिंसा है।

संसारमें छह द्रव्योंकी अवस्थिति है, छह द्रव्योंकी नित्यतासे संसार नित्य माना जाता है। छहों द्रव्योंकी पर्यायोंकी अनित्यताकी अपेक्षासे संसार अनित्य कहा जाता है। जीव, पुद्गल,

धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं क्योंकि इन सब द्रव्योंमें उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व पाया जाता है तथा गुण पर्यायें पायी जाती हैं। हरएक द्रव्यमें अनंतो गुण और एक २ गुणकी अनत पर्यायें होती हैं। गुणके ो पर्याय कहते हैं। इन द्रव्योंमें सबसे बड दो द्रव्य हैं। एक पृथ्वी दूसरा आकाश। पृथ्वी तो परमाणु २ मिलकर बडी बनी है, आकाश स्वतः स्वभाव बडा है। आकाशसे बडा कोई द्रव्य नहीं है। आकाश ही सब द्रव्योंको अवकाश दान दिये हुए है। पुद्गल द्रव्य कई खण्डोंमें विभक्त है, परंतु आकाश द्रव्य वास्तवमें तो एक अखंड द्रव्य है, परंतु उपचारसे घटाकाश मठाकाश, पटाकाश आदि अनेक भेद हैं। सो आकाश बराबर कोई द्रव्य बडा नहीं है। इसी प्रकार सब पुण्योंमें वा सब धमा में या सब व्रतोंमें अहिंसा समान पुण्य धर्म और व्रत नहीं है। जिसने इस व्रत, धर्म या पुण्य का पालन किया उसने थोड समयमें संसारसे ही पराङ्-मुखता धारणकी और ऐसा मनुष्य तीनों लोकोंक जीवोंसे पूज्य हो जाता है। ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेवने कहा है।

यहां हिंसा और अहिंसाका संक्षेपमें लक्षण कहा है—

आत्मामें रागादि भावोंकी उत्पत्ति होना हिंसा है और उनकी उत्पत्ति नहीं होना अहिंसा है। फिर भी हिंसा दो तरहकी होती है एक द्रव्य हिंसा दूसरी भाव हिंसा। प्रमादके

योगस दूसरे २ प्राणियोंक द्रव्य प्राणोंका घात या वियोग करना सो तो द्रव्य हिंसा कहलाती है। और अपने प्राणोंका वियोग करना अथवा कषाय भाव उत्पन्न करना सो भावहिंसा कहलाती है।

मनुष्योंके द्वारा व्यवहारमें जितने कार्य किये जाते हैं जैसे— मारना, पछाडना, ठोकना, रांधना, पीसना, तलना, काटना, गर्मी सर्दी पहुंचाना और भी अन्य उपायोंसे जीवोंको मारना सो सब द्रव्य हिंसा है। ऐसे व्यवहार करना जिससे अपने या दूसरेमें रागादि भावोंकी उत्पत्ति होजावे उसको भाव हिंसा समझना चाहिये। इन दोनों तरहकी हिंसाका मन वचन काय कृतकारित अनुमोदनासे त्याग करना चाहिये। यही अहिंसा महाव्रत है। नवकोटि किसे कहते हैं इसको ध्यानसे जानना चाहिये— मन वचन काय इन तीनोंको कृत कारित अनुमोदना से गुणा करने पर नव भेद होजाते हैं। जैसे—मन कर कृत कारित अनुमोदना। वचन कर कृत कारित अनुमोदना। काय कर कृत कारित अनुमोदना। इस प्रकार मनके तीन वचनके तीन कायके तीन मिलकर ९ भेद होते हैं इन्हींको नवकोटि कहते हैं। इन नवकोटिसे अहिंसाके पालने वाले जीव जगत-पूज्य, जगदुद्धारक, जगच्छिरोमणि कहे जाते हैं। अहिंसक का सभी विश्वास करते हैं। विरोधी अपने जन्म जात वैर

को भूल जाते हैं। तीर्थंकरोंके समोसरणमें जातिविरोधी जीव एक दूसरेसे सटकर बैठते हैं, गायके दूधको सिंहनीका बच्चा पीता है और सिंहनीके दूधको गायका बछडा पीता है। जो नेवला सर्पको देखतेही सर्पको मार डालनेके लिये उछलकूद मचाने लगता है वहभी अहिंसक तीर्थंकरके समोसरणमें सर्पकी गोदमें कलोलें करता है। जिस चूहेको देख कर बिल्ली खाजानेके लिये पूंछ हला २ कर पंजे मारना शुरू करती है वही चूहा बिल्लीके मुंहको चूमने लगता है, यह सब अहिंसाका ही प्रभाव है। अहिंसाकी महिमा अनेक आचार्योंने गाई है। एक आचार्यका कहना है—

अहिंसैकापि यत्सौख्यं कल्याणमथवा शिवम्।
दत्ते तद्देहिनां नायं तपः श्रुतयमोत्करः ॥८ सर्ग ज्ञानार्णव॥

अर्थ– यह अकेली अहिंसा जीवोंको जो सुख ,कल्याण या अभ्युदय देती है वह तप स्वाध्याय यम नियमादि नहीं दे सकते हैं, क्योंकि धर्मके समस्त अंगोंमें अहिंसाही एक मात्र प्रधान अंग है। फिर इसी ८ वें सर्गमें कहा है-

चारु मंत्रौषधानां वा हेतोरन्यस्य वा क्वचित्।
कृता सती नरैर्हिंसा पातयत्यविलम्बितम् ॥२७॥

अर्थ—देवताकी पूजाके लिये रचे हुए नैवेद्य तथा मंत्र औषध निमित्त अथवा अन्य भी काय क लिए की गई हिंसा नरक में ले जाती है। और भी कहा है कि—

सकलजलधिवेलावारि सीमां धरित्रीं
[illegible]
यदि मरणनिमित्ते कोपि दद्यात्कथंचित्
तदपि न मनुजानां जीविते त्यागबुद्धिः ॥

अर्थ—यदि कोई किसी मनुष्यको मरजानेके बदलेमें नगर पर्वत तथा रत्न सुवर्ण धनधान्यादिकोंसे भरी हुई समुद्र पर्यंत सकल पृथ्वीको दे देवे और उससे उसके बदले में मरने के लिये कहे तो वह अपने वर्तमान जीवनको त्यागनेके लिये तैयार नहीं होगा चाहे वह कितनाही रोगी कुष्टी दरिद्री या बूढा ही क्यों न हो। कारण उसका ये है कि अपने प्राण सबको प्यारे होते हैं। मरनेकी दो घडी पहिले भी जीव मरनेके लिये तैयार नहीं होता अच्छे २ विवेकी पुरुष जो ऐसा अच्छी तरह जानते हैं कि जिसका जन्म होता है उसका मरण जरूर होता है लेकिन वे भी किसीके द्वारा कहे गये अपने मरणके वचनोंको सुननेके लिये तैयार नहीं होते। कितने ही व्यक्ति ऐसे भी है जो किसीके द्वारा तुम मरजाओ एस वचन निकालने पर लडनेको तैयार हो जाते हैं। कहां तक कहा जाय अपने प्राणों का व्यामोह सभीको होता है। मरना किसीको पसंद नहीं, जब अपनेको पसंद नहीं तो जानना चाहिये दूसरे को कैसे पसंद हो सकता है। छोटासा घाव अपने शरीरको व्यथित

करता है फिर सर्वथा किया हुआ दूसरेका अंगभंग उसको कैसे संक्लिष्ट नहीं करता होगा ? हिंसा घोर नरकवेदनाकी कारण है, अपरिमित भव धारण कर २ के भयंकर दुःख भोगने पडते हैं। ऐसा जानकर हिंसा सर्वथा त्याग करना चाहिये। अहिंसाही भुक्ति मुक्तिकी देनेवाली है। धन्य है वे जो ऐसा मनुष्य भव पाकर पूर्ण अहिंसाका पालन करते हैं।

सत्य महाव्रत—मन वचन काय कृत कारित अनुमोदनासे प्राणियोंको पीडाके कारण ऐसे अप्रशस्त वचनोंके कहनेका सर्वथा त्याग करना सत्य महाव्रत है। मुनि ऐसे वचन न बोलें जिस वचनसे दूसरोंको आत्माका अभाव रूप श्रद्धान होजावे, जिस वचनसे हिंसाके कारण आरम्भमें प्रवृत्ति होजाय, कामकी उत्कटता होजाय, राग भाव बढ जाय, कलह होजाय, मूर्च्छा परिग्रह बढ जाय, धर्मसे पराङ्मुख होजाय, इन्द्रियोंके विषयोंमें लीनता होजाय, परका मर्म छेदा जाय, दूसरेका अपवाद या दूषण संसारमें प्रगट होजाय, अपमान या तिरस्कार होजाय, जिस वचनसे दूसरा देव गुरु धर्मका विपरीत श्रद्धान करने लग जाय, लोकनिंदा होजाय। मुनिका बचन हित मित और सन्देह रहित होना चाहिए। हित दो तरहका होता है-एक स्वहित दूसरा परहित। जिस वचनसे अपने संसारका अभाव हो वह स्वहित

वचन है। जिससे दूसरे जीवोंका संसार परिभ्रमण मिटजाय सो परहित है। ऐसा वचन बोले जिससे अपना और दूसरे का हित हो, अनर्थक बहुत प्रलाप रहित, प्रमाणीक जितने की आवश्यकता हो उतना वचन बोलना मित वचन है। जिसमें सन्देहादि रहित प्रगट अर्थ हो वा प्रगट अक्षर हों सो असंदिग्ध वचन है। हित मित असंदिग्ध वचन तो कहे परन्तु मिथ्यात्वके बचन, ईर्षाके वचन, अप्रिय वचन, कषाय वढानेवाले वचन, भेद करनेवाले वचन, अल्पसावद्य वचन, शंकाको उत्पन्न करनेवाले शंकित वचन, भ्रम उत्पन्न करनेवाला वचन, कषाय हास्यके वचन, देशकालादि विरुद्ध वचन नहीं बोले। एव ऐसे वचन भी नहीं बोले जो सभाके सत्पुरुषोंके सम्मुख नहीं - बोलने योग्य हों, कठोर वचन, अधर्म विधिका पोषक, अति प्रशंसादिक वचन इत्यादिक सदोष वचनोंको छोडकर जिन सूत्रकी आज्ञानुसार अनुकूल वचन बोले। यहां कोई ऐसा पूंछे कि मुनिको सत्य धर्मका पालन करते हुए भाषा समिति भी पालना चाहिए तो इन दोनोंमें फरक क्या है? इस शंकाका समाधान यह है कि मुनिराज श्रावक लोगोंमें या अपने संघमें सत्य महाव्रत और भाषा समिति इन दोनोंको एक साथ पालते हैं या दोनोंका एक साथ प्रयाग करते हैं, परन्तु किसी समय पर भाषा समितिके प्रयोग करनेमें बाधा आजाती है क्योंकि आचार्यो

को कोई समय ऐसा भी आजाता है कि मानों किसी शिष्य से ऐसा अज्ञानताजन्य दोष बन गया हो जिसका प्रायश्चित्त संघसे बाहर कर देने से होता हो, गुरुने उपदेशमें कितने ही वक्त पदार्थका या चर्याका स्वरूप समझाया है फिर भी बार २ दोष बन जाता है तो उस समय शब्दोंका कठोर प्रयोग भी करना पडता है। जैसे किसी मुनिसे कोई अपराध बन गया हो जिससे सारे संघका अपवाद होता हो या सारे सघ पर विपत्तिका पहाड टूट पडे, उस समय आचार्य ऐसा भी कह सकते हैं कि हे दुरात्मन्! तुम हमारे संघसे निकल जाओ, तुमको तो पापोंसे प्रेम है, धर्मात्मा मुनिसंघ से तुम्हें प्रयोजन नहीं है। क्योंकि जो संसाररूपी पापके मैल को धोना चाहे वही धर्मात्माओंसे सम्बन्ध रखना पसन्द करता है जब तुम्हें इन बातोंकी जरूरत नहीं है तो फिर तुम्हें धर्म सेवन करनेवाले मुनि संघमें रहनेकी क्या जरूरत है? जिसको पापपुंज धोना हो, तथा धर्मका संचय करना हो संसारका अभाव करना चाहता हो वही व्यक्ति ऐसे मुनि संघमें रहे। जब तुम्हें ऐसे मुनिसंघमें रहनेकी जरूरत नहीं है तो तुम संघसे अलग चले जाओ, तुम संघसे पृथक् किये जाते हो, अबसे तुम्हें इस संघमें बिलकुल नहीं रहना चाहिए।

जब इस प्रकारके शब्द आचार्यों द्वारा काममें लाए जाते हैं तो बतलाओ उनके द्वारा भाषा समितिका पालन

कैसे होसकता है ? इसलिये जो संघसे बाहरके हैं उनके साथ सत्यमहाव्रत और भाषा समितिका व्यवहार होता है, संघमें रहने वालोंके साथ किसी २ समय भाषा समितिका पालन नहीं भी हो सकता है। परंतु ऐसा व्यवहार उसी शिष्यके साथ किया जाता है जो अत्यंत उद्दंड होता है।

कर्मोंका संवर और उनकी निर्जरा तभी हो सकती है जब सत्य धर्मके साथ भाषा समितिका ठीक २ प्रयोग किया जाय। संसारमें जिन्होंने सत्यका पालन किया उन आत्माओं का पापमैल दूर होकर उनकी निर्मलता होजाती है उनका कर्ममैल धुल गया है और वे सदाको सुखी होगये। लोभादि कषायोंकी पुष्टि करनेके लिए ही असत्यका अवलंबन करना पड़ता है। अतएव वे महात्मा धन्य और स्तुत्य हैं जिन्हों ने तमाम पापोंको धोनेके लिये सत्य धर्मका अवलंबन कर सत्य महाव्रतका पालन किया।

अचौर्यमहाव्रत—प्रमादसे किसीकी बिना दी गई कोई वस्तु ग्रहण करना सो चोरी है। मन वचन काय कृत कारित अनुमोदनसे ऐसी चौरीका सर्वथा त्याग करना सो अचौर्य महाव्रत है। परकी वस्तु ग्रहण होहु या मत होहु जहां प्रमत्तयोग होगा वहां चोरीका दोष जरूर है। यद्यपि कर्म नोकर्म धर्मग्रहण, शब्दग्रहण, इत्यादिक भी बिना दिये ग्रहण किये जाते हैं तो भी ये अदत्तग्रहण नहीं हैं क्योंकि

लने देनेका व्यवहार जहां संभव होता है वहीं अदत्तग्रहणका व्यवहार जानना चाहिए। व्यवहारमें जितने उपयोगी धन धान्यादिक हैं उन्हींका लेन देन होता है या पुस्तक पीछी कमंडलु हैं उनका भी आदान प्रदान हो सकता है, ऐसी वस्तुओं का बिना आज्ञा लेना देना चोरीमें संभव होता है। मुनिराज ऐसी चोरीके सर्वथा त्यागी होते है। इस व्रतके पुष्ट करनेके लिये पांच तरहकी भावनाएं भाते हैं-शून्य गृह जो पर्वत गुफा वन वृक्ष कोटरादि उनमें मैं निवास, करू, दूसरेके द्वारा छोडे हुए उजड स्थानमे रहू, आप जहां जाऊं वहां कोई दूसरा व्यक्ति आवे तो उसको आनेसे मना नहीं करू, जहां किसीने पहिलेसे ही निवास कर रक्खा हो उसको वहाम निकाल कर बाहरकर खुद निवास नहीं करू, आचारांग शास्त्रके अनुसार भिक्षाकी शुद्धि रक्खू, साधर्मियोंसे विसवाद नहीं करू।

आचार्योंने परद्रव्यके दो भेद बतलाये हैं एक चेतन दूसरा अचेतन। चेतन में तो दासी दास पुत्र पौत्र स्त्री गौ महिषी घोडा हाथी आदि समझना चाहिये। और अचेतनमें सोना चांदी मकान जमीन राज्य किला खेत आदि समझना चाहिये। जो प्राणी संतोषसे रहना चाहते हैं, शांतिजन्य सुखका अनुभव करना चाहते हैं तथा अपने स्वभावमें ही स्थिर रहना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे इन चेतन

अचेतन पदार्थोंको दुखदाई समझकर इनसे ममत्व छोडकर इनका सर्वथा त्याग कर दें। क्योंकि ज्ञानार्णवमें ऐसा कहा है कि—

चिदचिद्रूपतापन्नं यत्परस्वमनेकधा।
तस्याज्यं संयमोद्दामसीमासंरक्षणोद्यमः ॥७॥

इसका अर्थ ऊपर आगया इसलिए पुनः नहीं लिखा जाता है।

धनको शास्त्रोंमें बाह्य प्राणवत बतलाया गया है सो ही ज्ञानार्णवमें लिखा है—

वित्तमेव मतं सूत्रे प्राणा बाह्याः शरीरिणाम्।
तस्यापहारमात्रेण स्युस्ते प्रागेव घातत: ॥३॥

अर्थ—धनको शास्त्रोंमें बाह्य प्राण माना है। इसलिये धनका हरण करना ही प्राणका हरण करना है। एक भाषाकार कविने भी कहा है-

दोहा—भूल्या विसरया भूपड्या परधन बहू धराय।
बिना दिया लीजे नहीं जन्म२ दुखदाय ॥

और भी कहा है—

चौपाई—मालिककी आज्ञा विन कोय, चीज गहै सो चोरी होय
तातैं आज्ञा बिन मत गहो, चोरीसे नित डरते रहो ॥

इसलिये हे प्राणियो! पर पदार्थ चेतन हो या अचेतन हो उसको ग्रहण करनेकी स्वप्नमें भी इच्छा मत करो,

जो संसारमें सुखसे जीना चाहते होतो इस बातका विचार करो कि जो वस्तु अपनी होती है उसको यदि कोई दूसरा छीन ले जाय या बिना पूछे उठा ले जाये तो अपने परिणामोंमें कितना संक्लेश हो जाता है। दिनरात आर्त रौद्र ध्यान ही लगा रहता है। उसी तरह दूसरेके पदार्थोंको यदि अपन छीन लेते हैं तो उसको वैसा दुख क्यों नहीं होता होगा? उसकी आत्मामें भी कुगति बन्धका कारण आर्त रौद्र ध्यान लगा रहता होगा? इसलिए प्राण रहते पर पदार्थका ग्रहण कभी मत करो। ऐसा ही संसारी जीवोंको सद्गुरुओंका सदुपदेश है। यह अचौर्यव्रत भी नवकोटीसे शुद्ध ही पाला जाता है। गृहस्थोंके लिए सिद्धान्तमें दो पदार्थोंकी छूट मानी जाती है (१) किसीके कुएसे जल भर लेना (२) खेत वगैरहसे मिट्टी लेलेना। क्योंकि इनके मालिकोंकी तरफसे इस विषयमें कोई रोक नहीं होती है। पानी मिट्टीके लेनेमें मालिकोंको कोई खेद नहीं होता है। इसलिए आर्त रौद्र ध्यानकी परिणति भी नहीं होती है। बाकीके कोई पदार्थ बिना दिये नहीं लेना चाहिए। धर्म साधन करते रहो जिस से बिना मांगे तुम्हें अपने आप सब पदार्थ सुलभ होते रहें।

एक विद्वानने कहा है —

जांचे सुरतरु देहिं सुख चिंतित चिंता रैन।
बिन जांचे बिन चिंतये धर्म सकल सुख दैन॥

हे भद्रपरिणाममयो ! जरा विचार करो संसारमें पाप समान कोई दुखदाई चीज नहीं है और धर्मके समान कोई सुखदाई चीज नहीं है इसलिये दुख देने वाले पदार्थोंका संबंध स्वप्नमें भी मत चाहो। सदा धर्म सहित रहनेका अभ्यास करो। ये अचौर्य महाव्रत अपनी आत्मिक निधिको प्राप्त करनेकी तरफही झुकता है। जो चीज अपनी है उसी को ग्रहण करनेकी इच्छा करो वह चीज लोभादिक कषायोंको दूर करनेसे ही मिल सकती है। धन्य हैं वे जीव जिन्होंने चोरी की वासनाको दूरकर सर्वथा अचौर्य महाव्रतको अपनाते हैं। यह अचौर्य महाव्रत सच्चे सुखकी कुजी है।

ब्रह्मचर्यमहाव्रत—कामसेवनको मैथुन कहते हैं, मैथुन को ही अब्रह्म कहते हैं। चारित्र मोहनीयके तीव्र उदयसे रागभावकी उत्कटतासे जो स्त्री पुरुषोंके परस्पर शरीरका स्पर्श करनेमें सुखकी इच्छा करने वाले पुरुषका जो रागा परिणाम सो मैथुन है। इसीको कुशीलभी कहते हैं। जिस भव्यात्माको तात्विक विवेक हो जाता है वह स्त्रीके शरीर को महाघृणाका घर तथा मलजनक और मलकी योनी समझकर उसका त्याग कर देते हैं और अपनी आत्मामें रमण करने लगता है उसके ब्रह्मचर्य महाव्रत होता है। स्त्रीमात्र का त्यागी तो गृहस्थ भी होता है, जिसके सातमी प्रतिमा

होती है, पर उसका व्रत अणुव्रतही कहा जाता है। क्योंकि प्रत्याख्यानावरणीकषायका उदय रहता है। मुनिराजका व्रतही महाव्रत कहा जाता है। क्योंकि उनके प्रत्याख्यानावरण कषायका क्षयोपशम होजाता है। महाव्रती ब्रह्मचर्य व्रतको पुष्ट करनेके लिये नीचे लिखी भावनाएं भाता है। स्त्रियोंमें राग बढाने वाली कथाओंके सुननेका मैं त्याग करूं, उनके मनोहर अंगको मैं नहीं देखूं, गृहस्थावस्थामें स्त्रियोंके साथ भोगे हुए भोगोंका स्मरणभी न करूं, ब्रह्मचर्यमें बाधा डालने वाले पौष्टिक रसोंका मैं त्याग करूं, अपने शरीरको सजाने वाले संस्कारका मैं त्याग करूं। ब्रह्मचर्यके पुष्ट करनेके नव वाड बतलाए गये हैं और वे निम्न प्रकार हैं—

स्त्रीयोंके समागममें रहना, स्त्रीयोंको राग भरी दृष्टिसे देखना, स्त्रीयोंसे परोक्षमें सराग संभाषण करना, पूर्वकालमें भोगे हुए भोग विलासोंका स्मरण करना, आनन्द दायक गरिष्ट भोजन करना, स्नान मंजन आदिके द्वारा शरीरको आवश्यकतासे अधिक सजाना, स्त्रियोंके पलंग आसन आदि पर सोना बैठना, काम कथा व कामोत्पादक कथा व गीतों का सुनना, भूखसे अधिक अथवा पेट भर कर भोजन करना इन सबके त्यागको जैन मतमें ब्रह्मचर्यकी नव वाड कहा है। ब्रह्मचर्यका लक्षण ग्रन्थान्तरमें इस प्रकार भी कहा है—

विंदन्ति परमं ब्रह्म यत्समालम्ब्य योगिनः ।
तत् व्रतं ब्रह्मचर्यं स्याद्वीरधौरेयगोचरम् ॥११॥ पर्व॥

अर्थ—जिस व्रतका अवलम्बन लेकर योगीगण पर-ब्रह्म परमात्माको पहिचानते हैं या उसका अनुभव करते हैं ऐसे उत्कृष्ट व्रतको महा धीर वीर पुरुष ही धारण करते हैं सामान्य मनुष्य धारण नहीं कर सकते हैं। ऐसा यह ब्रह्म-चर्य महाव्रत है। और भी कहा है—

ब्रह्मव्रतमिदं जीयाच्चरणस्यैव जीवितम् ।
स्युः सन्तोऽपि गुणा येन विना क्लेशाय देहिनाम् ॥

अर्थ-आशीर्वाद पूर्वक आचार्य महाराज कहते हैं कि यह ब्रह्मचर्य नामक महाव्रत जयवन्त हो, क्योंकि यह व्रत चारित्रका तो एक मात्र जीवन है, इसके बिना अन्य जितने गुण हैं वे सब जीवोंको क्लेश ही देने वाले हैं।

ब्रह्मचर्यके भेद प्रभेद निम्न प्रकार हैं-मूल ब्रह्मचर्यव्रत १। इसके दो भेद होते हैं (१) द्रव्य ब्रह्मचर्य दूसरा भाव ब्रह्मचर्य। इन द्रव्य भाव ब्रह्मचर्यके फिर तीन २ भेद होते हैं, ये भेद मोटे रूपसे माने गये हैं। उनका पृथक्करण इस प्रकार है द्रव्य ब्रह्मचर्यके तीन भेद (१) उत्तम (२) मध्यम (३) जघन्य।

[१] उत्तम द्रव्य ब्रह्मचर्य–सप्तम प्रतिमाधारी ब्रह्मचारी के होता है जो स्वदारामें भी यावज्जीवन विषय सेवन करने

का त्यागी होता है, लेकिन अपने शरीरकी सेवा टहल करा सकता है।

मध्यम द्रव्य ब्रह्मचर्य—उसके होता है जो सम्यक् दृष्टि होता है और जो परस्त्री मात्रका तो सर्वथा त्यागी हो पर अपनी विवाहिता स्त्रीमें पर्वोंके दिनोंको छोड कर और पहिली पिछली रात्रिके समयको छोड कर वा दिनको भी छोड कर स्वदारसन्तोषव्रत धारण करे।

(३) जघन्य द्रव्य ब्रह्मचर्य उसके होता है जो केवल स्वदारसन्तोषव्रतका धारी है और कोई नियम नहीं है।

अब भाव ब्रह्मचर्यव्रतका कथन करते हैं—

भाव ब्रह्मचर्यके भी तीन भेद होते हैं (१) उत्तम (२) मध्यम (३) जघन्य।

(१) उत्तम ब्रह्मचर्य-नवमें गुणस्थानके ६वें भागसे लेकर १२वें गुणस्थानवर्ती मुनिके होता है।

(२) मध्यम भावब्रह्मचर्य-सामायिक रूप भाव सप्तम गुणस्थानसे लेकर नवम गुणस्थानके ६वें भागके पहिले २ होता है। कारण ये है कि वहां जाकर वेद नामक कषाय का सर्वथा अभाव नहीं होता आगे कषायका सर्वथा अभाव है।

(३) जघन्य भाव ब्रह्मचर्य-आरंभत्याग प्रतिमासे लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा वाले श्रावक तथा छट्टे गुणस्थान वाले

मुनिराज जो हलन चलन करते हैं जिनको जीव हिंसाकी बाधा हो जाती है जिसका कि मुनिराज प्रायश्चित्य लेते हैं ऐसे ब्रह्मचर्यको जघन्य भाव ब्रह्मचर्य कहते हैं।

प्रश्न-पूर्ण ब्रह्मचर्य १२ वें गुणस्थानमें कैसे कहा ? समझमें नहीं आया इसका खुलासा कीजिये ?

उत्तर-देशव्रतसे लेकर छट्टे गुणस्थान तक तो स्त्रियोंके साथ भोजनका वा उपदेश आदेशका संबंध रहता है, जिससे मुनिराजोंके दोष भी होजाता है उसका प्रायश्चित भी लेते हैं। ऊपर सप्तम गुणस्थानसे लेकर नवमें गुणस्थान तक वेद नामाकर्म कषाये जन्य भावोंका सद्भाव रहता है। सो परिणामोंमें सूक्ष्म रीतिसे मलीनता रहती ही है, जिससे यहां पर गुणसे गुणान्तर, भावसे भावान्तर, द्रव्यसे द्रव्यान्तर, पर्यायसे पर्यायान्तर, परिणमन होता है इसीको अर्थव्यञ्जन योग संक्रान्ति कहते हैं। आगे बारहवें गुणस्थान तक ऐसे भाव नहीं रहते, परन्तु केवल ज्ञानके विना जो भाव रहते हैं वे परोक्षरूप भावब्रह्मचर्य हैं। प्रत्यक्ष रूप भावब्रह्मचर्य नहीं हैं। यहां तो यथाख्यात भावब्रह्मचर्य है। जब तरहवें गुणवर्ती आत्माको जाज्वल्यमान केवल ज्ञान हो जाता है तब ही क्षायिक भाव ब्रह्मचर्यकी भी जघन्यावस्था कही जाती है, क्योंकि यहां भी योगोंका सद्भाव है। आगे चौदहवें गुणस्थानमें योगोंका अभाव होनेसे जो आत्माके शील रूप

१८००० भेद हैं उनमें अभी पूर्णता होनेमें कमी है जब चौदहवें गुणस्थानका अवशेष समय पांच लघ्वक्षर प्रमाण पूर्ण हो जाता है उसी समय १८००० शीलके भेद और चौरासी लाख ८४००००० उत्तरगुणोंके भेद पूर्ण हो जाते है। उसी समय पूर्ण गुणसंपन्न परमात्मा सिद्धालयमें विराजमान होजाते हैं। उन्हींके पूर्ण भावब्रह्मचर्य होता है। वह पर्याय अचल, अनौपम्य और अव्यय कही जाती है। फिर सिद्धालयसे वह आत्मा कभी चलायमान नहीं होता है। इसीका नाम पूर्ण क्षायिक ब्रह्मचर्य है।

ख्याल करनेकी बात है कि संसारमें सब से ज्यादा विषैला जानवर विषधर होता है, जो एक वक्त काट खावे तो उसका उपचार न होकर मरणको ही प्राप्त होजावे, सो उसके जहरके वेग तो सात ही होते हैं, परन्तु ब्रह्मचर्यव्रत भंग करने वाले की दशदशाए होती हैं। इसलिये विचार करना चाहिये कि सर्पके विषके दूर करनेके लिये औषधि और मंत्र मौजूद हैं जिनसे सर्पका विष दूर होजाता है, परन्तु काम सेवनके विषके दूर करनेके लिये न तो कोई औषधि है और न कोई मंत्र ही है। इस विषका उतरना तो होताही नहीं, किंतु प्राण घात ही हो जाता है।

इसी बातको बतलानेके लिये कहा गया है कि—काम· देवकी दस दशाओंमें

प्रथमे जायते चिन्ता द्वितीये द्रष्टुमिच्छति ।
तृतीये दीर्घनिश्वासश्चतुर्थे भजते ज्वरम् ॥
पंचमे दह्यते गात्रं षष्ठे भुक्तं न रोचते ।
सप्तमे स्यान्महामूर्च्छा उन्मत्तत्वमथाष्टमे ॥
नवमे प्राणसंदेहो दशमे मुच्यतेऽसुभिः ।
एतैर्वेगैः समाक्रान्ता जीवस्तत्त्वं न पश्यति ॥

अर्थ— कामके उद्दीप्त होनेपर प्रथम तो चिन्ता होती है कि उस स्त्रीका संपर्क कैसे हो (२) दूसरेमें उसको देखनेकी इच्छा होती है (३) तीसरे वेगमें दीर्घ निःश्वास लेता है और कहता है कि हाय २ उसका देखनाभी नहीं हुआ ? ४. चौथे वेगमें ज्वरका प्रकोप होजाता है। ५. पांचवें वेगमें शरीर क्षीण होने लगता है। ६. छटवें वेगमें किया हुआ भोजन नहीं रुचता है। ७. सातवें वेगमें मूर्च्छासे अचेत होने लगता है। ८. आठवें वेगमें उन्मत्त अर्थात् पागलसा होजाता है ९. नवमें वेगमें प्राणोंका संदेह होने लगता है कि अब मैं जीवित रहूंगा या नहीं ? और १०. दशवें वेगमें मरण तक होजाता है। इसलिये इनका संबंध और वृद्धि करनेसे जो जो कार्य हो सकते हैं उनका पहिले विचार कर उनको घटाना ही मनुष्यकी मनुष्यता है। वही कहा जाता है--

आद्यं शरीरसंस्कारो द्वितीयं वृषसेवनम् ।

तौर्यत्रिकं तृतीयं स्यात्संसर्गस्तुर्यमिष्यते ॥
योषिद्विषयसंकल्पः पञ्चमं परिकीर्तितः ।
तदंगवीक्षणं षष्ठं संस्कारः सप्तमं मतम् ॥
पूर्वानुभोगसंभोगस्मरणं स्याच्चदष्टमम् ।
नवमं भाविनी चिन्ता दशमं वस्तिमोक्षणम् ॥

अर्थ– (१) प्रथम शरीर का संस्कार करना [शृंगारादि करना] [२] दूसरे पुष्ट रसका सेवन करना, ३ तीसरे गीत नृत्य वादित्रोंका सुनना वा देखना, ४ चौथे स्त्रियोंका संसर्ग करना अर्थात् स्त्रियोंकी संगतिमें रहना, ५ पांचवें स्त्रीयोंमें किसी प्रकारका संकल्प या विचार करना ६ छट्ठे स्त्रीयोंके गुप्तांग देखनेका विचार करना ७ सातवें जो अंग देखा हो उसके सस्कारको हृदयमें रखना। ८ आठवें पूर्व कालमें भोगे हुए भोगोंका चिंतवन करना। ९ नवमें आगामी कालमें भोग भोगनेकी चिन्ता करना। १० दशवें अपने वीर्यकी रक्षा नहीं करके किसी भी तरह उसको पात करना। इस प्रकार मैथुनके उपजानेके ये बलवान् कारण हैं। अतः विचारवानपुरुष जो हमेशाको सुख चाहते हैं इनका कभी भी संकल्प न करें, सत्पुरुषोंका यही कर्तव्य होना चाहिये जिससे आत्मा कर्मोंके फंदोंसे बच जावे।

संसारमें जितने भी कार्य सिद्ध होते हैं वे परिश्रम पूर्वक पुरुषार्थसे ही हो सकते हैं। जैसे हम देखते हैं कि

हमारे गृहस्थाश्रमके जितने भी कार्य होते हैं वे सब पुष्ट शरीरस ही निष्पन्न होते हैं। यदि शरीरमें ताकत न हो तो और की तो बात क्या कटोरी भर पानी भी नहीं पी सकते मोक्ष प्राप्त करना भी एक कार्य है वह तप पूर्वक की हुई कर्मोंकी निर्जरासे प्राप्त होता है। तप इंद्रियोंके निग्रह करने से होता है। इंद्रियोंका निग्रह करनेके लिये अनशनादि करने पडते हैं। अनशनादि करनेको शक्तिकी आवश्यकता है। स्वाध्यायमें उपयोग लगानेके लिये शक्तिकी भारी आवश्यकता है। तत्त्वका चिंतवन करनेके लिये, ध्यान करनेके लिये, कायोत्सर्ग धारण करनेके लिए, आसन प्राणायामादि विधान करनेके लिए यहां तक कि जितने भी नित्य के कृत्य हैं सबमें शक्तिकी परमावश्यकता है। शक्तिकी प्रादुर्भूति विना ब्रह्मचर्यको धारण किये हो नहीं सकती इसलिए मोक्षाभिलाषियोंका कर्तव्य है कि प्राण जाते भी ब्रह्मचर्य की रक्षा करें। हमारे परम पूज्य प्रातःस्मरणीय तीर्थंकरोंने परंपराचार्योंने और सद्गुरुओंने यदि आत्मिक सच्ची शांति पाई है तो ब्रह्मचर्य व्रतके माहातम्यसे ही पाई है। जो लोग शास्त्रोक्त विधिसे शीलव्रतका पालन करते हैं वे तीन लोकके महर्धिकोंके द्वारा पूज्य, स्तुत्य और सेवनीय हो जाते हैं। धन्य है वे जीव जिन्होंने ऐसा उत्तम मनुष्य भव प्राप्त करके इस दुर्लभ दुर्धर शील व्रत का आचरण

किया अथवा कर रहे और आगे करेंगे। इस व्रतकी महिमा बडे २ ज्ञानवान व्यक्तियोंने गाई है। सीता, द्रौपदी, अजना सुलोचना, राजुल आदि देवियोंने भी इसी व्रतके प्रभावसे ऐसी प्रख्याति और यश प्राप्त किया जो यावच्चंद्र दिवाकर रहेगा इसलिये हे आत्मन् तुझे भी यदि इस ससारसे पार होना है तथा तमाम कष्टोंसे निवृत्ति प्राप्त करना है तो इस कठोर व्रतका आचरण कर, यह व्रत आत्माका ही एक अंग है।

परिग्रह त्याग महाव्रत—

यानपात्रमिवाम्भोधौ गुणवानपि मज्जति।
परिग्रहगुरुत्वेन संयमी जन्मसागरे॥

अर्थ—जिस प्रकार नावमें पाषाणादिका बोझा बहुत होनेसे अच्छी बढिया नवी रस्सीसे बंधी हुई नावभी समुद्रमें डूब जाती है, उसी प्रकार रत्नत्रय गुणोंकर युक्त महा पुरुषार्थ धारी संयमी मुनि यद्यपि गुणवान है तो भी परिग्रहके भारसे संसार रूपी सागरमें डूब जाते हैं। इसीका खुलासा करनेको कहते हैं—

वास्तु क्षेत्रं धनं धान्यं द्विपदाश्च चतुष्पदाः।
शयनासनयान च कुप्यं भाण्डममी दश॥
स्वजनधनधान्यदाराः पशुपुत्रपुराकरगृहं भृत्याः।
मणिकनकरचितशय्यावस्त्राभरणादि बाह्यार्थाः॥

अर्थ—वास्तु (घर) क्षेत्र (खेत) धन (स्वर्णादि) धान्य (अन्नादि) द्विपद (मनुष्यादि) चतुष्पद (पशु हाथी घोटकादि) शयनासन (सोने बैठनेका सामनादि) यान (पालकी म्यानादिक सवारी) कुप्य(कपडा लत्तादि) भांड [बर्तन आदि] इनका ही आगे फिर दूसरे श्लोकमें वर्णन है—

अर्थ—स्वजन, धन, धान्य, स्त्री, पुत्र, पुर, खानि, घर, नौकर [दासी दास] माणिक, रत्न, सोना, रूपा, शय्या वस्त्र, आभरण इत्यादि प्रकारके सभी पदार्थ बाह्य परिग्रह हैं।

अब अन्तरंगके १४ प्रकारके परिग्रहको कहते हैं

मिथ्यात्ववेदरागा दोषा हास्यादयोऽपि षट् चैव ।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः ॥

अर्थ—१ मिथ्यात्व २ पुरुषवेद ३ स्त्रीवेद ४ नपुसकवेद ५ हास्य ६ रति ७ अरति ८ शोक ९ भय १० जुगुप्सा ११ क्रोध १२ मान १३ माया और १४ लोभ ऐसे चौदह प्रकारका अतरंग परिग्रह होता है। अथवा अतरंग परिग्रह के ये १४ भेद हैं। संक्षेपमें इनका स्वरूप इस प्रकार है—

दर्शनमोहका भेद जो मिथ्यात्व प्रकृति उसके उदयसे जीवके तत्त्वार्थका श्रद्धान नहीं होना, अतत्त्वको तत्त्व समझना, सत्यार्थ आप्त आगम गुरुके स्वरूपका श्रद्धान नहीं करना, कुदेवमें देव बुद्धि करना, कुगुरुमें गुरुबुद्धि करना,

कुआगमको आगम मानना, कुधर्मको धर्म समझना तथा सत्य असत्य को समान मानना, देव गुरु धर्म स्वतत्त्व परतत्त्वको जानना ही नहीं, देहादिक परद्रव्यमें आपा मानना, देहके रूप जाति कुलको ही आत्मा जानना, सो सब मिथ्यात्व है।

जिस कर्मके उदयसे निःकपटता, निश्चलपना उदारपना होकर स्त्रियोंके साथ रमनेकी इच्छा रूप परिणाम हो उसे पुरुष वेद कहते हैं।

जिसके उदयसे मार्दवका अभाव और मायाचारादिकको अधिकता, कामका प्रवेश, नेत्रविभ्रमादि सुखके लिये पुरुषसे रमनेकी इच्छाको प्राप्त हो उसे स्त्री वेद कहते हैं।

जिस कर्मके उदयसे कामकी अधिकता, भंडशीलता (भांड सरीखे आचरण) स्त्री पुरुष दोनोंके साथ रमनेकी इच्छा हो और जिसकी कामाग्नि ईंटोंके अवाकी तरह प्रज्वलित रहती हो उसे नपुंसकवेद कहते हैं।

जिस कर्मके उदयसे हास्य (हँसी करना) प्रगट हो उसे हास्य कहते हैं।

जिसके उदयसे देशादिकोंमें उत्सुकपना, आसक्तपना होजावे सो रति है।

जिसके उदयसे देशादिकमें अनुत्सुकपना हो सो अरति है।

जिसके उदयसे प्रिय वस्तुके वियोग और अनिष्ट

वस्तुके संयोग होने पर शोक हो जाय सो शोक है।

जिसके उदयसे [illegible] [illegible] हो जाय सो भय है।

जिसके उदयमे अपने दोषका आच्छादन करना और दूसरेके कुल शीलादिकोंमें दोष प्रगटकर अवज्ञा करना, तिरस्कार करना, ग्लानी करना हो सो जुगुप्सा है।

अपने और दूसरोंके घात कर डालनेके परिणाम, तथा परका उपकार करनेका अभाव तथा परिणामोंमें क्रूरता सो क्रोध है। वह क्रोध पत्थरकी लीक, पृथ्वीकी लीक, वालुरेतकी लीक और जलमें लीकके समान होता है। जाति कुल बल ऐश्वर्य विद्या रूप लाभ इत्यादिके आश्रय से मदजनित उद्धततासे दूसरोंके साथ नम्रीभूत होनेके परिणाम नहीं होना सो मान है। वह पाषाणके स्तंभ समान, हाड समान काष्ठ समान और लता समान होता है।

दूसरोंको ठगनेके परिणामसे परिणामोंमें कुटिलपना सो माया है। वह वांसाकी जड, मीढाका सींग, गोमूत्र की अवलखनीके तुल्य होता है।

जो अपने उपकारके लिये सांसारिक तमाम पदार्थोंको प्राप्त करनेकी अभिलाषा सो लोभ है। सो कामराग कज्जल, कर्दम और हरिद्राके रंगके समान चार प्रकार है।

इन चौदह प्रकारके अंतरग परिग्रहके लोभ करनेसे यह जीव संसार रूपी जालमें फँलकर कभी भी छूट नहीं

सकता। इसलिये हे भव्य जीव हो यह लोभ कितनी बुरी चीज है जो ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुंच हुए मुनिकों संसारमें जन्म मरण अर्ध पुद्गल परावर्तन तक करा ही देता है। इसलिये इस लोभका संवरण करो। इसको अच्छा मत मानो, इसके जालमें यदि एक वक्त फँस जाओगे तो फिर निकलना मुश्किल होगा। क्योंकि वह लोभ बड़े २ ज्ञानी मुनिराजोंको भी पतितकर दीर्घ संसारमें भ्रमण कराकर एक श्वासमें अठारह बार जनम मरण करा देता है। यही सिद्धांत यहां फिर बतलाया जाता है—

संगात्कामस्ततः क्रोधस्तस्माद्धिंसा तयाऽशुभम्।
तेन श्वाभ्री गतिस्तस्यां दुःखं वाचामगोचरम्॥

अर्थ-परिग्रह संचय करनेसे काम (वांछा) जागृत होते है। कामसे क्रोध, क्रोधसे हिंसा, उससे अशुभ कर्मो का बंध होता है, अशुभकर्मोंके बंध होनेसे नरकगतिमें जाना होता है, नरकमें ऐसा दुख होता है जिसका वर्णन बचनोंसे हो नहीं सकता।

इस प्रकार दुखकी मूल कारण इच्छा को जो परिग्रहकी उत्पादक है माना गया है। उसीको फिर बतलाते हैं—

सूत्र सिद्धांतोंमें परिग्रहको ही समस्त अनर्थोंका मूल कारण माना गया है। क्योंकि जिसके होनेसे एक क्षण भर में रागादिक शत्रु जो आत्माके साथ नाना प्रकारके

अशुभ कर्मोंका बन्ध कराते हैं जागृत होजाते हैं वही परिग्रह-है। इसलिए इच्छाको अन्तरंग परिग्रहमें गिनाया गया है।

यह मनुष्य परिग्रहसे पीडित होकर विषय रूपी सर्पों से काटा जाता है और कामके बाणोंसे भेदा जाता है, स्त्री रूपी व्याघ्रीसे मारा जाता है।

अपि सूर्यस्त्यजेद्धाम स्थिरत्वं वा सुराचलः।
न पुनः संगसंकीर्णो मुनिः स्यात्संवृतेन्द्रियः॥

अर्थ—हे आत्मन्! कदाचित् सूर्य तो अपना तेज छोड दे और सुमेरु पर्वत अपनी स्थिरताको (अचलता) छोड देवे तो ये बात सम्भव हो सकती है परन्तु परिग्रह सहित मुनि कदापि जितेन्द्रिय नहीं हो सकता। इसलिए इस परि-ग्रह रूपी धूर्तसे बचना ही मनुष्यकी उत्तमता है। आत्मा का अहित करनेवाला जान कर इस परिग्रहको इकदम छोड देना चाहिये ऐसा करनेसे ही सच्चा सुख मिल सकता है।

आगे इस परिग्रहसे होने वाला ममताका थोडासा और दिग्दर्शन कराया जाता है—

जैसे ग्रामोंमें या शहरोंमें छोटे २ बच्चे अपने अपने मकानों पर चढ कर पतंग उडाते हैं सो उस पतंगमें तो खुद उडनेकी शक्ति है, परन्तु वह बालक ऐसा समझता है कि यदि ये कनकी उड जायगी तो फिर हमारे पास कुछ भी नहीं रह जायगा। इसलिए उस कनकीको बडी लम्बी

बांध कर उडाते हैं। तो समझिये कि कनकीमें रस्सी बांधने की शक्ति उन लडकोंमें भी है और बांधनेकी शक्ति उस कनकीमें है तभी तो वे लडके बांधते हैं और वह कनकी बंधती है। अगर उनमें शक्ति न होती तो न तो लडके बांध सकते थे और न कनकी बंध सकती थी। ठीक इसी प्रकार आत्मा और पुद्गल इन दोनों द्रव्योंमें उपादान उपादेय रूप बन्ध बन्धक शक्ति है। इससे विचारिये कि जब वह बालक उस पतंगको डोरी लगा कर आकाशमें उडा देते हैं परन्तु वह कनकी उस डोरीके बांधके निमित्तसे स्वतन्त्र रूपसे आकाशमें उडनेकी शक्तिको रखते हुए भी स्वतन्त्र नहीं उड सकती है। क्योंकि उडाने वाला बालक जब चाहे ऊंचे उडावे जब चाहे नीचे उतार लेवे अगर वह पतंग रस्सी से नहीं बंधी होती तो न तो बालकोंके चढानेसे ऊंची चढती और न उतारनेसे नीचे आती, परन्तु डोरी रूप आशासे बंधी है इसलिये वह बालक उसको जैसा नचाते हैं वैसी नाचती है। उसी तरह शुद्ध नयसे भगवान समान यह आत्मा अनादिकालीन अपनी भूलसे परिग्रह रूप भूत को अपनाये हुए है जिससे ससार रूपी आकाशमें ऊंची या नीची जन्म मरण रूप नर नारकादि गतियोंमें भ्रमण करता फिरता है यह भी आशा रूप डोरीसे परिग्रह रूपी पतंगको उडा रहा है। जब ये इस डोरको तोड

देगा उसी वक्त ये परिग्रह रूप पतंगका सम्बन्ध विच्छेद कर लेगा, फिर इसको किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं रहेगी और ये जीव अनाकुल होकर परम सन्तोष जन्य आनंदका अनुभव करने लगेगा। अतएव हे विवेकशील प्राणियो निश्चय करो कि यह भगवान समान आत्मा इस परिग्रहके जालमें फँसकर महादुखी हो रहा है। यह देखकर तथा वैसाही अनुभव कर पूज्य महर्षियोंने इस अनर्थकारी परिग्रहके सर्वथा त्याग करनेका उपदेश दिया है। यह परिग्रह रूप भूत तुम्हारा पीछा तभी छोड सकेगा जब तुम अपने आपको पहिचाननेका यत्न करोगे और ये अनुभव करने लगोगे कि इस परिग्रहसे तुम्हारा क्या वास्ता है? ऐसा करनेसे ही निश्चय कर सकोगे कि संसारमें जितने पदार्थ हैं उनसे हमारा कोई सरोकार नहीं हैं ये भिन्न हैं और मैं इनसे सर्वथा भिन्न हूं। जब तक ऐसी प्रतीति नहीं हो तबतक तुम्हारी लालसा नहीं टूट सकती, लालसाही परिग्रह है और बाह्य परिग्रहके सग्रह करनेमें कारण है। और परिग्रहका संचय करना, रक्षण करना ही दुखदाई है।

ख्याल करो जिस वृक्षमें फल नहीं होते हैं उस वृक्षको पक्षी छोडकर चले जाते हैं। जिस सरोवरमें जल नहीं रहता (सूखजाता) है उस सरोवरको भी पशु छोडकर चले जाते हैं या फिर पानी पीने नहीं आते हैं। ठीक इसी तरह

संसारमें कुटुम्बीजन या स्वार्थी मित्र मनुष्यके साथ तभी तक संबंध रखते हैं जब तक उसके पास धन रहता है। धनके न रहने पर पशुपक्षियोंकी तरह कुटुम्बी लोग भी संबंध छोडकर चले जाते हैं। जैसे जंगलके जलते ही मृगगण भाग जाते हैं। इस दृष्टांतसे यही शिक्षा लो कि तुम्हारी आत्मामें जब तक लोभ रूपी द्रव्य रहेगा तभी तक लोभके कुटुम्बी जन्म मरण जरा आदि, इस आत्मासे संबंध रखेंगे, जहां लोभको अपने पाससे विदा किया कि उसके कुटुम्बी जन्मादिक भी पास नहीं भटकेंगे। जहां जन्म मरण रुके कि फिर तो तीन कालमें भी तुम्हारा चतुर्गत्यात्मकपरिभ्रमण नहीं हो सकेगा। इसलिये लोभ छोड़ना ही तुम्हारा प्रथम कर्तव्य है। लोभसे बुरी दशा होती है। देखो—

लोभसे बुद्धि भ्रष्ट होजाती है। लोभसे तृष्णा बढ़ती है। तृष्णा बढ जानेसे मनुष्य इस लोक और परलोकमें दुःख भोगता है। हे आत्मन्! लोभ करनेसे नाना प्रकारके भय उपस्थित होने लगते हैं। अर्थात् भय आ घेरते हैं। लोभीका चित्त कभी स्थिर नहीं रहता है। सदा चंचल बना रहता है। लोभीको लेशमात्र भी सुख और संतोष नहीं रहता है।

जब तक चित्तमें लोभ रहेगा तब तक अन्याय और पापकी लहरें उठती ही रहेंगी, ऐसे महापापके बाप रूप लोभका सदाके लिये परित्याग कर देना ही श्रेयस्कर है।

आरम्भो जंतुघातश्च कषायाश्च परिग्रहात् ।
जायन्तेऽत्र ततः पातः प्राणिनां श्वभ्रसागरे ॥

अर्थ–हेआत्मन् ! परिग्रहसे जीवोंके इस लोकमें आरंभ होता है, आरंभसे हिंसा होती है, हिंसासे कषाय होती है, और कषायसे नरकोंमें जन्म होता है। जहां पर ३३ सागर तक घोर यातनाएं भोगनी पडती हैं। प्रिय भव्यात्माओ ! क्या आप नहीं जानते कि कर्मकी आधीनतामें रहने वाले ये संसारी प्राणी कषायसे तमाम चेतनाचेतनात्मक पर पदार्थोंसे सम्बन्ध रख कर कैसे २ अनर्थ करते हैं ? कहने को तो मां बाप भाई भौजाई बहिन मामा मौसा मित्र आदि अनेक सगे संबन्धी हैं पर वह जिसके पीछे हैं वह धन धान्यादिक हैं। जब तक आपके पास धन धान्यादिक हैं तब तक सब लोग सगे सम्बन्धी बने रहते हैं बल्कि धनके रहते तो बेपहिचानके लोग भी जबरदस्तीके सम्बन्ध बतलाकर संबन्धी बन जाते हैं, सेवा सुश्रूषा करते हैं, परन्तु धनादिकके न रहने पर औरकी तो बात ही क्या अपनेसे उत्पन्न तथा अपनी सहधर्मिणी ऐसे पुत्र स्त्री भी अपना संबंध छोड देते हैं। तथा सेवा सुश्रूषा करना छोड देते हैं। कितनी ही जगह तो यहां तक देखा गया कि पतीके वृद्ध होते ही पत्नीने अपने पुत्रवधू और पुत्रके साथ अलग रहकर पतीको रोटीके टुकडेका मुहताज

बना दिया । पती दर २ के भिकारी बना दिये जाते और पत्नी पुत्र पुत्रियोंके साथ मौज उडाती है । एवं पुत्र और पुत्रवधुओंके द्वारा वृद्ध माता पिता त्याग दिये जाते हैं वे बिचार खाने पीने को लाचार रहते, पर लडकों और बहुओं के पास उनके दुख देखने और सुननेको न तो कान हैं न आंख ही हैं । ये सब क्यों ? इस परिग्रह देवकी ही कृपा है कि जिसका स्वार्थ बनता है वह तो स्वार्थी प्रेम बतलाता है, दूसरे या तो फूटी आंखों देखेंगे नहीं या फिर पूर्ण द्वेष रखनेका व्यवहार चालू हो जाता है । कितने ही जगह बाप बेटामें, मां बेटामें, भाइ भाइ में, पती पत्नीमें धनके कारण कोर्टोंमें मुकद्दमे बाजी भी चलती है । लाखों रुपया पानीकी तरह बहाया जाता है पर परस्परमें मेल मिलाप नहीं हो पाता । जर और जमीनके कारण राजाओं २ में भयंकर युद्ध होते हैं । लाखों प्रजाके लोग लाश बना दिये जाते हैं; एक क्या ऐसे अनेक हेतु गिनाए जा सकते हैं जिनसे जाना जा सकता है कि परिग्रह कितना अनर्थका कारण है । इस के कारण लोकमें कभीभी किसीको शांति नहीं मिल सकती है और न मिली है । शांति तो उन्हें ही मिली है जिन्होंने संतोषका अवलंबन किया तथा संपूर्ण पर पदार्थोंसे नाता तोडा । इसलिए इस परिग्रह त्याग महाव्रतको नवकोटी शुद्ध पालना चाहिये : तीन लोकमें वही मान्य हुए हैं

जिन्होंने इस व्रतका आचरण कर अपने आत्माका परिग्रहण किया है।

प्रश्न-ये पंच महाव्रत दयामें गर्भित हैं या अहिंसा रूप हैं?

उत्तर-इन पांच महाव्रतोंका पालन तो तीर्थंकरादिक महापुरुषोंने भी किया है। उन्होंने ऐसाही उपदेश दिया है कि हिंसा महापाप है, इसका त्याग नव कोटोसे करके अहिंसादि महाव्रतोंका पालन करना चाहिये। इसलिए ये व्रत अहिंसा रूपही शिक्षा देते हैं, दया रूप शिक्षा नहीं देते हैं।

यमप्रशमराज्यस्य मद्बोधार्कोदयस्य च।
विवेकस्यापि लोकानामाशैव प्रतिशोधिका ॥५॥ज्ञाना १७

अर्थ—लोगोंके यम नियम और प्रशम भावोंके राज्य का तथा सम्यग्ज्ञान रूपी सूर्यके उदयका प्रतिषेध करनेवाली एवं विवेकको रोकने वाली एकमात्र यह आशा ही है।

संसारी जीवोंके आशा ही तो ५ इन्द्रियोंको उन्मत्त करने वाली है। आशा ही विषयोंको बढाने वाली मंजरी है। संसारमें जितने भी दुःख हो सकते हैं उनकी एकमात्र यह आशा ही मूल कारण हो सकती है। कहा गया है—

आशाया ये दासाः ते दासा भवंति सर्वलोकस्य।
आशा येषां दासी तेषां दासाय ते लोकाः॥

अर्थ—जो जीव आशाके दास हैं वे सर्व लोकके दास

हैं क्योंकि वे आशा रखते हैं। जो आशाके दास नहीं हैं उन जीवोका संसारमात्र दास है। इसलिए यह आशा रूपी पिशाचिनी सर्वथा त्यागने योग्य है।

हे आत्मन् जिस पुरुषकी आशा रूपी पिशाचिनी नाश को प्राप्त होगई उसका शास्त्राध्यायन करना, चारित्र पालना विवेक करना, तत्त्वोंकी यथार्थ प्रतीति करना, निर्ममत्वपना का अवलंबन करना सत्यार्थ है। सार्थक है।

निरासता सुधापूरैर्यस्य चेतः पवित्रितम्।

तमालिंगति सोत्कंठं शमश्रीवृद्धसौहृदा ॥१३॥ज्ञाना.॥

अर्थ-हे आत्मन्! जिस पुरुषका चित्त निराशारूपी अमृतके प्रवाहोंसे पवित्र होचुका है उस पुरुषको प्रीतिसे बंधी हुई प्रशम भाव रूपी लक्ष्मी उत्कण्ठा पूर्वक आलिंगन करती है।

इस प्रकार परिग्रह महाव्रतमें दूषण लगानेवाली जो आशा थी उसका जिसने निर्मूलन कर दिया वही पुरुष धन्य हैं। उन्हींका मनुष्य भव सफल है और वे ही तीन लोकमें पूज्य हैं।

अब तीन गुप्तियोंका वर्णन करते हैं—

मन वचन कायकी पापोंसे रक्षा करना गुप्ति है। इसी बातको सूत्रकारने कहा है कि "सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः" अर्थ-मन वचन कायकी क्रियाका यथेष्ट आचरणका रोकना

सो योगनिग्रह है। इस लोकमें तो लोकरंजनादिक सत्कार और परलोक संबन्धी विषय सुखादिकी अपेक्षा रहित केवल स्वरूपकी विशुद्धिताके लिए योगोंका निग्रह करना गुप्ति है। मन वचन कायकी स्वेच्छा प्रवृत्तिसे जो कर्मोंका आश्रव होता था सो उनका निरोध कर देनेसे संवर होता हैं। शरीरका परित्याग जब तक नहीं हो जाय तब तक संक्लेशके अभाव करनेके लिए मन वचन कायके योगोंको रोकनेकी प्रतिज्ञा है, तो भी आहार विहार नीहार प्रश्नादिककी अपेक्षा से योगोंकी प्रवृत्ति अवश्य होती है। उस प्रवृत्तिमें समिति रूप प्रवर्तनेसे कर्मोंका आस्रव नहीं होता है किन्तु संवर होता है। एक दृष्टान्त-जैसे एक राजाके राज्यकी रक्षा करनेवाला किला (दुर्ग) हो जिस राजाके राज्यशासनमें किला नहींहो वह राजा अपने राज्यकी रक्षा नहीं कर सकता है। उसी प्रकार एक संयमी पुरुषके भी दुर्गकी तरह पंच महाव्रतोंकी या आत्मिक शुद्ध भावनाकी विषय कषाय रूपी धूर्तोंसे रक्षा कैसे की जासकती है। इसलिए जैसे राजाको अपने राज्यकी रक्षाके लिए किलेकी आवश्यकता होती है. उसी तरह संयमीके लिए अपने ग्रहण किये हुए महाव्रतोंकी रक्षाके लिए तीन गुप्तियोंकी बडी जरूरत है। इन गुप्तियों का सामान्य लक्षण पूज्यपाद स्वामीने यह बतलाया है कि " संसारके कारणोंसे आत्माकी रक्षा करना सो गुप्ति है।

गुप्ति तीन प्रकारकी होती हैं (१) मन गुप्ति (२) वचन गुप्ति और (३) काय गुप्ति। मनको संसारके कारणोंसे रोकना मनोगुप्ति है। एवं वचनगुप्ति और कायगुप्ति जानना चाहिए।

अब पांच समितियोंका स्वरूप कहते हैं—

दूसरे प्राणियोंकी पीडाके परिहार करनेकी इच्छासे भले प्रकार यत्नाचार रूप प्रवृत्तिकरना समिति है। समितियां पांच प्रकारकी होती हैं (१) ईर्यासमिति (२) भाषासमिति (३) एषणासमिति (४) आदाननिक्षेपणसमिति और उत्सर्ग-समिति।

जो मुनिजीवोंके स्थान योन्यादिकका ज्ञान रखताहो और धर्मके लिये यत्नमें सावधान हो ऐसे साधुका सूर्यका उदय हो जाय और नेत्र इन्द्रियमें विषय ग्रहणकी सामर्थ्य उत्पन्न होजावे तथा मनुष्य तिर्यंचोंके परिभ्रमणसे ओस बरफ इत्यादिक जिस मार्गसे दूर होगई हो ऐसे मार्गमें अन्य विषयोंसे मनको रोककर धीरे २ पैर रखता हुआ शरीरके आंगोपांगादिकोंको संकोच रूप करता चार हात प्रमाण आगेकी पृथ्वीके देखनेमें दृष्टिको लगाता हुआ गमन करताहै उसके ईर्यासमिति होती है। इससे पृथ्वीकाय जलकायके जीवोंकी विराधनाका अभाव होता हैं।

हित मित संदेह रहित वचन बोलना भाषा समिति है। इसका स्वरूप ऊपर आगया।

दिनमें एकवार निर्दोष आहार ग्रहण करना सो एषणा समिति है। इस समितिका धारक मुनि गृहादि परिग्रह रहित पुण्यरूपी रत्नोंसे भरी हुई देह रूपी गाडीक चलानेके लिये ओंगन.ी तरह प्रमाणीक आहार लेकर समाधि तपोंके प्राप्त करनेका इच्छुक है और उदरमें उत्पन्न हुए क्षुधादिके दाहके उपशमन करनेके लिये औषधिकी तरह प्रमाणीक आहार ग्रहण करता हुआ भोजनके आस्वादनकी लालसा रहित देश कालादि सामर्थ्य सहित उत्तम कुलवालेके यहां उत्पन्न हुवा (बनाया गया) अनिंद्य और उद्गम उत्पादन एषणासंयोजन प्रमाण अंगार धूप कारणादि दोष रहित नवधा भक्ति सहित कृत कारित अनुमोदनादि दोष रहित उत्तम कुलमें उत्पन्न होनेसे भक्तिसे दिया गया अन्तराय टाल कर खडे २ अपने हाथ रूपी पात्रमें भोजन करै। भोजन करते समय याचना नहीं करे, हुंकारादि नहीं करे, आधा पेट भोजनसे भरे चौथाई जल सेभरे और चौथाई खाली रखे। केवल रत्नत्रयका सहकारी शरीरको जानकर धर्मके पालन करनेके लिए आहार मुनिराज लेते हैं, आहारको शरीरकी पुष्टता आस्वादनादि दोष रहित ग्रहण करे ऐसे मुनिके एषणा समिति होती है।

धर्मसे विरोध रहित अन्य जीवोंकी विराधना न करनेके लिए शरीर, पुस्तक, कमण्डलु आदि उपकरणोंको नेत्रोंसे देखकर पीछीसे शोधकर ग्रहण करना, धरना, प्रवर्तन करना

सो आदान निक्षेपण समिति कहलाती है ।

त्रस स्थावर जीवोंको बाधा जिस तरह नहीं हो उसी तरह शुद्ध, जन्तु रहित, अंकुर रहित, मार्गमें चलने वालोंके देखनेमें न आवे, ऐसी प्रासुक भूमिमें मलमूत्र खखार थूक आदि क्षेपण करना तथा प्रासुक जलसे शौच क्रिया करना सो उत्सर्ग समिति है। इसीको प्रतिष्ठापना समिति भी कहते हैं।

प्रश्न–ईर्यासमित्यादि पांचों समिति कायगुप्तिमें अन्तर्भूत हो सकती हैं फिर इनका अलग २ कथन क्यों किया?

उत्तर–प्रमाणीक काल पर्यंत संपूर्ण योगोंका निग्रह करना गुप्ति है। और गुप्तिमें बहुत समय तक ठहरनेमें असमर्थ साधुका अपने कल्याण रूप क्रियामें प्रवृति होना सो समिति है । यही अंतर है। इस प्रकार पांच समितियोंका वर्णन किया।

अब बारह भावनाओंका वर्णन करते हैं–

अनित्याद्यः प्रशस्यंते द्वादशैता मुमुक्षुभिः ।
मुक्तिसौधसोपानराजयोऽत्यंतबन्धुराः ॥

अर्थ—अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म ऐसी ये बारह भावनाएं होती हैं। मुमुक्षु जीव इनका बार बार चिंतवन करते हैं। इनके चिंतवन करनेसे वैराग्यकी

दृढता होती है, अशांति और व्यकुलता नष्ट हो जाती तथा शांति जन्य सुख प्रादुर्भूत हो जाता है। कहा भी है-

अनित्याशरणसंसार एकत्व-अन्यत्व-अशुचान्।
आस्रव संवर निर्जरा लोक बोध धर्म जान ॥
ये ही बारह भावना करो निरंतर भान।
इनके भाये आत्मा को न होत भगवान ॥
माता है वैराग्यकी बारह भावन जान।
इनका जो चिंतन करे सो होवे भगवान ॥

अब इनका पृथक् २ वर्णन करते हैं—

अध्रुवाणि समस्तानि शरीरादीनि देहिनाम्।
तन्नाशेऽपि न कर्तव्यः शोका दुष्कर्मकारणम् ॥१॥ पद्मनंदी

बुधजनजी-जेती जगतमें वस्तु तेती अथिर पर्यय तें सदा।
परणमण राखन हार समरथ इन्द्रचक्री मुनि कदा ॥
सुत नारि यौवन और तन धन जान दामिनि दमकसा
ममता न कीजे धार समता मानि जलमें नमकसा ॥

ये इन्द्रिय विषय, धन यौवन जीवितव्य जलके बुद्बुदे की तरह अस्थिर स्वभाव हैं। गर्भादि अवस्था विशेष हैं सो संयोग वियोग रूप हैं। मोहसे अज्ञानी जीव नित्यता मान रहे हैं। संसार में अपने ज्ञानदर्शनोपयोग स्वभावसे भिन्न जितनी वस्तुए हैं उनका संयोग ध्रुव नहीं है। जन्म मरण सहित है। यौवन बुढापेसे ग्रस्त है। लक्ष्मी विनाश सहित

है। जहां संयोग है वहां वियोग जरूर है। इन्द्रियोंके विषय इन्द्रधनुषवत् चंचल हैं, देखते २ नाश हो जाते हैं। जैसे मार्गमें सामने आने वाला रास्तागीरका संसर्ग क्षणभरका होता है उसी तरह मित्र वा कुटुम्बीजनोंका संबंध भी अत्यंत अल्पकालका जानना चाहिये। नाना प्रकारके सुगंधित और स्वादिष्ट भोजन पान सुगंध वस्त्र आभरणादिसे बहुत समय तक लालन पालन किया हुआ भी देह क्षणमात्रमें विनश जाता है। लक्ष्मी तो चक्रवर्तियोंकी भी स्थिर नहीं रहती इस प्रकार सब पदार्थोंका अनित्य चिंतवन करना अनित्य भावना है। ऐसा चिंतन करने वालेके संपूर्ण देह धन कुटुम्बादिमें आसक्तताके अभाव हो जानेसे वियोग होजाने पर भी परिणामोंमें पीडा उत्पन्न नहीं होती है।

अशरण भावनाका वर्णन—

व्याघ्रेणाघ्रातकायस्य मृगशावस्य निर्जने।
यथा न शरणं जंतोः संसारे न तथापदि ॥२॥ पद्मनंदि॥

बुधजन–चेतन अचेतन सब परिग्रह हुआ अपनी थिति लहै।
सो रहैं आप करार माफिक अधिक राखै न रहैं॥
अब शरण काकी लेयगा जब इन्द्र नाहीं रहत हैं।
शरण तो इक धरम आतम जाहि मुनिजन गहत हैं॥

जो अशरण भावना भाता है वह संसारमें किसी चीजको अपना शरण देने वाला नहीं मानता तथाहि —

जैसे एकांत वनमें बलवान और भूखा तथा मांस खानेका अभिलाषी ऐसे व्याघ्रसे पकडे हुए मृगके बालकको कोई शरण देनेवाला नहीं है । उसी तरह जन्म जरा मरण रोग, प्रियका वियोग, दुष्टका संयोग, वांछितका अभाव, दारिद्र्य दुर्जनादिसे उत्पन्न दुःखसे पीडित प्राणीको कोई शरण देनेवाला नहीं हैं । बहुत पुष्ट किया हुवा अपना शरीर भोजन के प्रति सहायक है, कष्टमें सहायक नहीं है, कष्ट आने पर आत्माको अपना शरीरही दुख देता है । बडे प्रयत्नसे इकठा किया हुवा धन भी परलोक में नहीं जाता है । जिन के सुख दुखमें सामिल होकर सहायक बने ऐसे मित्रवर्गभी मरणसे रक्षा नहीं करते हैं । संपूर्ण कुटुम्बी जन भी रोग आने पर रोगसे रक्षा नहीं करते हैं । इस संसारमें कहां मरण नहीं देखते हो । स्वर्गलोकका इन्द्र तथा अणिमादिक ऋद्धियोंके धारक असंख्यात देवभी क्षणमात्र रक्षा नहीं कर सके तो अन्य ग्रह पिशाच योगिनी यक्ष क्षेत्रपाल मंत्र तंत्र यज्ञ होम औषधि, वैद्य रसायनादिक कौन रक्षा करनेमें समर्थ हो सकते हैं । मरण तो आयुकर्मके पूर्ण होनेसे होता है । और आयुकर्मके देनेको कोई समर्थ नहीं है क्योंकि देवोंका इन्द्र भी अपनी आयु पूर्ण होने पर मरनेसे रक्षा करनेमें असमर्थ है । औरकी तो क्या बात कहना । अगर मरण करते हुए मनुष्यकी देव देवी मंत्र तंत्र क्षेत्रपालादिक

रक्षा करते तो मनुष्य अक्षय हो जाते। देखो नाना प्रकार के उपाय करके भी कोऊ बलवान ऐश्वर्यवान धनवान ज्ञानवान शूरवीर तथा निर्बल निर्धन रंक अज्ञान असक्त मरणसे नहीं बचे। ऐसा प्रत्यक्ष देखते हुए भी जो ग्रह भूत पिशाच योगिनी यक्ष यंत्र तंत्रादिकको शरण मानते हैं सो ये बडा भारी मिथ्यात्वका उदय है। इस प्रकार अन्य असातादिक कर्मके उदयको भी निवारण करनेको कोऊ शरण नहीं है। एक सम्यग्भावसे आचरण किया हुआ धर्मही शरण है। धन मित्रादिक कोऊभी रक्षक नहीं हैं। इस प्रकार अशरणानुप्रेक्षा चिंतवन करनेवालेके "मैं नित्य अशरण हूं" ऐसे भावसे सांसारिक समस्त बंधमें ममत्वके अभावसे भगवान सर्वज्ञ कथित वचनमें लीनता उत्पन्न होती है। इस प्रकार अशरणभावना कही।

संसार भावनाका स्वरूप

यत्सुखं तत्सुखाभासो यद्दुःखं तत्सदंजसा।
भवे लोकः सुखं सत्यं मोक्ष एव स साध्यताम्॥

बुधजन—सुरनर नरक पशु सकल हेरे कर्म चेरे बन रहे।
सुख शश्वता नाहिं भासता सब विपतिमें अति सनरहे॥
दुख मानसी तो देवगतिमें नारकी दुख ही भरे।
तिर्यञ्च मनुज वियोग रोगी शोक संकटमें जरें॥

संसार नाम कर्मके संबंधसे चारों गतियोंमें संसरण या

परिभ्रमण करनेका है ! इस संसारमें यह जीव एक शरीरको छोडता है, तो दूसरेको ग्रहण करता है । इस प्रकार निरंतर एक एकको छोडना और नवीन नवीन ग्रहण करना तथा नाना प्रकारकी देहोंमें भ्रमण करना सो संसार है। जब पापकर्मका उदय आता है, तब नरकोंमें जन्म लेकर नाना प्रकार वचनके अगोचर ताडन मारण छेदन भेदन शूलारोपण वैतरिणी मज्जन शाल्मली घसीटन तथा असुरोंके द्वारा किया दुःख शरीर सबधी मानसिक दुःख क्षेत्र जनित दुःख परस्पर किया दुःख ऐसे पांच प्रकारके घोर दुःखोंको असंख्यात काल पर्यंत नरक घरामें भोगते हैं। जिनको नेत्रके टिमकार मात्र भी सुख नहीं है । और तिल तिल प्रमाण खंड करने पर भी, घाणीमें पेलने पर भी, आयु पूर्ण हुए बिना मरण नहीं होता। पारेकी तरह देहके खंड खंड भी मिल जाते हैं। कदाचित नरकसे आयु पूर्ण कर निकले तो नाना प्रकारकी तिर्यंच योनिमें जन्म प्राप्त करे। वहां गर्भमेंही छेदन मारणादि दुःखको प्राप्त होता है। तथा क्षुधा तृषा शीत उष्णजनित घोर वेदना भोगता है। जहां परस्पर मनुष्योंकी तरह अपना सुख दुख कहना श्रवण गोष्टी करना उपाय करना नहीं है। सदाकाल क्षुधादि वेदनाओंसे पीडित भयभीत रहते हैं। अनेक तिर्यंच मारकर खा जाते हैं। दुष्ट मनुष्य मारकर खा जाते हैं। जहां तहां

दूढकर मार डालते हैं। तथा नाक फाडकर रस्सी सांकल डालकर बांधे जाते हैं। बहुत भार लादा जाता है। मर्मस्थानमें तीक्ष्ण मारोंसे मारते हैं। भागने छिपने नहीं देते। अपना दुख सह सकते नहीं। इनकी कोई पुकार सुननेवाला नहीं। रोगादिककी तीव्र वेदना होने पर भी मर्मस्थानोंमें चोट देकर मारे जाते हैं, उछलते हैं, पडते हैं, अत्यंत पराधीनता भोगते हैं। जिनके पास कार्य करनेको हस्तादिक अवयव, कहनेको वचन नहीं, किससे अपने दुख कहें, कौन सुने? कौन पूछे? कोई राजादिक इनकी सहायता करता नहीं। अशक्त होकर पड जांय तो कौन उठावे? थलमें जलमें कर्दममें शीतमें घाममें वर्षामें पडे हुए को असमर्थ जानकर काकादिक दुष्ट पक्षी तीक्ष्ण लोह समान चंचूसे नेत्रोंको निकाल ले जाते हैं। मर्मस्थानोंमें काट २ कर खाजाते हैं। इस प्रकार और भी अनेक दुःख तिर्यंच गतिमें प्रत्यक्ष दीखते हैं। जो अन्यायसे दूसरोंका धन खाजाते हैं; लोभी व्यसनी होकर कुदान लेते हैं। अभक्ष्य भक्षण करते हैं, रात्रि भोजन करते हैं, विकथा करते हैं, इन सबका फल तिर्यंच गतिमें भोगते हैं। तिर्यं-चोंमें जो पक्षी हैं वे भी अत्यंत दुखी रहते हैं। वृक्षोंकी छोटी २ शाखाओंको मजबूत पकडकर भयभीत हुए भूख-प्यासकी बाधा, तीव्र पवनकी बाधा, वर्षाकी बाधा, शीत बरफके पडनेकी बाधाको, गुलेल की मारको, अत्यंत

अत्यंत भोगते अंधकार की रात्रिको भयभीत होकर अकेले ही व्यतीत करते हैं। ऐसी तिर्यंच गतिमें मायाचारके परिणामसे भोले असमर्थ जीवोंके धन विषय भोगोंको हरनेसे अनेक पर्यायोंमें असंख्यात काल तक ऐसे दुख भोगते हैं कि उनके कहनेको कोई समर्थ नहीं है।

मनुष्यगतिके दुःख—

कभी मनुष्य हो जावे तो वहां भी गर्भालयमें संकुचित अंग रहा महा घृणाके स्थानमें नौ दश माह पूर्ण करके योनि संकटके दुख भोगकर बाहर आता है। फिर बाल्य अवस्थामें नाना प्रकारके रोग जनित दुःख तथा माता पिता के मरण होनेसे वियोग जनित दुःख भूख प्यास शीत उष्ण जनित वेदनाको सहता हुआ महान दुख भोगता है। फिर विषय भोगोंकी चाह जनित दारिद्रय जनित अपने भयसे उत्पन्न, अलाभसे उत्पन्न, घोर दुःख भोगता है। अगर कोई पुण्यवान भी मनुष्य होवे तो उसको भी इष्ट का वियोग अनिष्टका संयोग जनित दुःख देखते हैं। कोईके स्त्री नहीं, कोईके स्त्री है तो पुत्र नहीं है, पुत्र है तो धन नहीं, धन है तो शरीर नीरोग नहीं, शरीर निरोग है तो धनका नाश हो जाता है, पुत्र कपूत होय, स्त्री दुराचारिणी होय, स्त्री पुत्रका मरण होजाय, वैरीसम बांधव होते हैं, राजा लूट लेता है, अग्नि जला देती है, धनवानसे निर्धन होजाता है इत्यादिक

दुःख मनुष्यगतिमें दीखते हैं।

देवगतिके दुःख—

देव पर्यायमेंभी जीव इष्ट वियोगादिक दुःख तथा महर्द्धिक देवोंकी संपदा देखकर तथा विषयोंकी तृष्णासे दुःख तथा स्वर्ग लोकसे पतन होनेका घोर दुःख भोगते हैं। इस प्रकार संसारी जीवोंने अनंत कालसे चारों गतियोंके नाना दुःख भोगते हुए अनंत परिवर्तन पूर्ण किये। परिवर्तन नाम परिभ्रमण का है। वह परिवर्तन द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावके भेदसे पांच प्रकारका होता है। इनका स्वरूप ग्रंथांतरसे जानना चाहिये। इत्यादि रूपसे संसारके स्वभाव का चिंतवन करना सो संसार भावना है। इस प्रकार संसार भावनाका चिंतवन करने वाला पुरुष संसारके दुःखसे भयभीत होकर संसारसे विरक्त हो जाता है। यदि विरागी हो जाय तो संसारसे निकलनेका प्रयत्न करने लग जाय। इति संसारानुप्रेक्षा।

एकत्व भावना—

जनम मरण जरा रोग वियोगादिकके महा दुःखोंमें आपको असहाय एकाकी चिंतवन करना सो एकत्वानुप्रेक्षा है। संसारमें मैं अकेलाही अनादिकालसे हूं, मेरे स्वजन कोई नहीं हैं, न कोई परिवारके हैं, जो मेरे व्याधि जरा मरणादिक दुःखको दूर कर सके। एक धर्म ही मेरा सहाई

है, शरण है, अविनाशी है। मैं तो रोगमें जनमते समय, मरते समय, दुःख भोगते समय हर समय अकेला ही हूं। यह कुटुम्ब मेरा तो नहीं है पर अपने स्वार्थके लिये मेरा बन रहा है, ये मेरी कर्म जनित वेदनाके समय कोई सहायक नहीं हो सकते, वह तो मुझे अकेले को ही भोगना पडती है। इस प्रकार चिंतवन करनेको एकत्वानुप्रेक्षा कहते हैं। कहा भी है—

स्वजनो वा परो वापि नो कश्चित्परमार्थतः।
केवलं स्वार्जितं कर्म जीवेनैकेन भुज्यते॥

अर्थ—परमार्थसे विचार कर देखा जाय तो न तो कोई स्वजन है और न कोई परजन है, न कोई कर्मरसके भोगनेमें साथी हैं, कमाये हुए कर्मके रसको तो यह जीव एकाकी ही भोगता है!

बुधजनजी-क्यों भूलता शठ फूलता है देख परिकर थोकको।
लाया, कहां ले जायगा क्या फौज भूषण रोकको॥
जन्मत मरत तुझ एकलेको काल केता होगया।
संग कोई तेरे नहीं लगे सीख मेरी सुन भया॥४॥

इस प्रकारका चिंतवन करना एकत्वानुप्रेक्षा है। ऐसा चिंतवन करने वालेको स्वजनमें प्रीति नहीं और परजनमें द्वेष नहीं उत्पन्न होता है। इसलिए सबमें राग द्वेषको छोड़कर मोक्षके लिये ही प्रयत्न करना अच्छा है।

अन्यत्व भावना

क्षीरनीरवदेकत्र स्थितयोर्देहदेहिनोः ।

भेदो यदि ततोऽन्येषु कलत्रादिषु का कथा ॥५॥

अर्थ—दूध और पानीकी तरह एकमेल हुए इस शरीर और आत्मामें जब प्रत्यक्ष भिन्नता सब संसार देखता है तब अत्यंत दूरवर्ती स्त्री पुत्र मित्र गाय बैल आदि स्वजाति चैतन्य पदार्थ और धन धान्य मकान आदि विजातीय अचेतन पदार्थ तो एकहो ही कैसे सकते हैं। ये तो प्रत्यक्ष भिन्न दीखते हैं। इस प्रकार शरीरादिकसे अपने स्वरूपका अन्य चिंतवन करना सो अन्यत्वानुप्रेक्षा है। यह शरीर इन्द्रियगम्य है, और मैं आत्मा अतीन्द्रिय हूं। शरीर अज्ञानी है, मैं ज्ञानी हूं। शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूं । शरीर आद्यंतवान है, मैं अनादि अनंत हूं। संसारमें परिभ्रमण करनेवाले मेरे अनंत शरीर बीत चुके हैं। इसप्रकारका चिंतवन करना अनित्य भावना है ! एक कविने कहा है-

चेतनस्वरूप तेरा तूंने जड बना लिया,

इस मोह अंधकारने चेतन छिपा लिया ॥

इसी प्रकार भगवान अमृतचंद्राचार्यने नाटकसमयसार कलशामें बतलाया है-

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन

स्वयमपि निभृतःसन् पश्य षण्मासमेकम् ।

हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किञ्चोपलब्धिः ॥३४॥

अर्थ—हे भव्य तुझ निकम्मा कोलाहल करनेसे क्या लाभ है। इस कोलाहलसे तो तू विरक्त हो और एक चैतन्य मात्र वस्तुमें आप निश्चल लीन होकर देख। ऐसा छह महिनातक अभ्यास कर। इस प्रकारके अभ्यास करनेसे अपने हृदय सरोवरमें जिसके तेजपुंजका (प्रतापका) प्रकाश इस पुद्गलसे भिन्न है उस चैतन्यज्योतिको तू प्राप्त कर लेगा संसारके प्रपंचोंसे तूं बच जायगा।

अब अशुचिभावनाका वर्णन करते हैं—

सयलकुहियाणपिंडं किमिकुलकलियं अउव्वदुग्गंधं।
मलमुत्ताणं गेहं देहं जाणेह असुइमयं॥

अर्थ- हे भव्य तूं इस देहको अपवित्र जान। कैसा ये देह है? संपूर्ण निंदनीक वस्तुओंका समूह है, तथा उदरके जीव लट तथा अनेक प्रकारके निगोदादिक जीवोंसे भरा हुआ है और अत्यंत दुर्गंध स्वरूप है, मल मूत्रका जो घर है। इस प्रकार शरीरका अशुचि रूप चिंतवन करना सो अशुचि भावना है। अशुचि पना दो तरह का है- एक लौकिक दूसरा लोकोत्तर। आत्मामें कर्म कलंकका नाश होकर अपने स्वरूपमें अवस्थित होना सो लोकोत्तर अशुचिपना है। इसके कारण सम्यग्दर्शनादिक हैं,

सम्यग्दर्शनादिके धारक साधु हैं और साधुओंके आधार भूत निर्वाणभूम्यादिक मुक्त होनेके उपाय हैं। इसलिये शुचि नामके योग्य हैं। ज्ञानार्णवमें कहा है—

तथाऽशुचिरयं कायः कृमिधातुमलान्वितः।
यथा तस्यैव संसर्गादन्यत्राप्यपवित्रता॥

बुधजन—क्या देख राचा फिरे नाचा रूप सुन्दर तन लहा।
मल मूत्र भाडा भरा गाढा तू न जाने भ्रम गहा।
क्यों सूग नाहीं लेत आतुर क्यों न चातुरता धरै।
तोहि काल गटकै नाहि अटकै छोड तुझको गिर परै॥

अर्थ—हड्डी मांस चर्बी मज्जा पीब और कीडोंसे भरा हुवा यह शरीर है। इसमें कितनेही प्रकारकी अपवित्र धातुएं भरी हुई हैं। इसीमें मल मूत्र कफ, लार, सेडा, कर्णमल, चक्षु-मल आदि नवमल महाघिनावने बहते रहते हैं। किस २ पदार्थका वर्णन किया जाय। इस शरीरका वर्णन देखना हो तो भगवती आराधनाकी अपराजित सूरिकृत टीका देखना चाहिये।

सज्जनाचित्तवल्लभमें ऐसा कहा है—

अंगं शोणितशुक्रसंभवमिदं मेदोऽस्थिमज्जाकुलं
बाह्ये माक्षिकपत्रसन्निभमहो चर्मावृतं सर्वतः।
नोचेत्काकवकादिभिर्वपुरहो जायेत भक्ष्यं ध्रुवं
दृष्ट्वाद्यापि शरीरसद्मनि कथं निर्वेगता नास्ति ते॥

भूधरदासजीने कहा है-

मात पिता रज वीरजसौं उपजी सब धातु कुधातु भरी है।
माखनके पर माफिक बाहर चामकी वेढन वेढि धरी है
नाहि तौ आय लगैं अबही बक वायस जीव बचे न घरी है
देहदशायह दीखत भ्रात घिनात नहीं किन बुद्धि हरी है।

इसका भाव ऊपर लिखे हुए श्लोकसे मिलता हुवाही है। इससे नहीं लिखा जाता है।

लौकिक शुचिपना आठ प्रकारका है-- कालशुद्धि, अग्निशुद्धि, भस्मशुद्धि, मृतिकाशुद्धि, गौमयशुद्धि, जलशुद्धि, ज्ञानशुद्धि, ग्लानिरहितपनाशुद्धि।

कालशुद्धि-जैसे रजस्वला स्त्री वा प्रसूता स्त्री तीन रात्रि अथवा डेढ माह रात्रिबाद शुद्ध मान ली जाती है। उसके साथ उन दिनोंमें सब तरहका व्यवहार बंद रहता है। उस समयके बीत जाने बाद सब व्यवहार चालू हो जाता है। पहिले ग्लानि रहती है पीछे ग्लानि हट जाती है। इसको लौकिक शुद्धि भी कहते हैं।

अग्निशुद्धि-धातुके वर्तन जो मल मूत्र आदिसे अपवित्र होजाते हैं या रजस्वला और प्रसूता स्त्रीके स्पर्श करनेसे अपवित्र होजाते हैं उनको अग्निमें तपा लेनेसे शुद्ध मान लेते हैं इसको अग्नि शुद्धि कहते हैं।

भस्मशुद्धि-जूंठे बर्तन या और २ तरहसे अपवित्र हुए

बर्तनोंको राखसे मांजने पर पवित्र मान लेना

मृतिकाशुद्धि–मल मूत्रादिके स्पर्श होनेसे हाथ पैर आदि स्थानोंको मिट्टीसे साफ करलेनेसे जो शुद्धि मानी जाती है उसे मृतिका शुद्धि कहते हैं।

गोमयशुद्धि–गोमय-गायका मल गोमय कहा जाता है। इसको वैदिक धर्मने पवित्र मानकर अपवित्र दशामें पृथ्वीको लीप लेनेसे शुद्धि मानी है। उनका कहना है कि गोबरसे जमीन लीप लेने पर पृथ्वीपरके ९ इंचतकके रोगजनक कीटाणु नष्ट होजाते हैं जिसस मनुष्य नीरोग रहता है।

जलशुद्धि–अस्पर्शके साथ छुआछूत होजानेपर ग्लानि को दूर करनेके लिये जलसे स्नान कर लेनेसे जो ग्लानी दूर होजाती है तथा पवित्रता मानली जाती है उसको जलशुद्धि कहते हैं।

पवनशुद्धि–जमीन, किवाड, पशु, काष्ठादिक, पाषाणादिकको अस्पर्श छूलेवे तो उनकी शुद्धि केवल हवाके लगनेसे ही मानली जाती है। जैसे—गाय, भैंस आदि पशु जारहे हों उनको कभी अस्पर्श शूद्र छूलेवें या अनाजकी राशिको छूलेवें तो इन तमाम पदार्थोंकी शुद्धि हवाके स्पर्शसे ही मान ली जाती है।

ज्ञानशुद्धि–ज्ञानमें जिसकी अशुद्धिताका संकल्प न होवे

जैसे मुर्देको छूकर लोक व्यवहारमें स्नान करते हैं। यदि वह मृतकका शरीर रत्नत्रयसे पवित्र व्यक्तिका हो तो लोक व्यवहारमें उसको अत्यंत पवित्र मानते हैं। तथा जिसकी सेवा करनेमें बडे २ ऋद्धिधारी देवादिक भी अपनेको धन्य मानते हैं। इसको ज्ञानशुद्धि कहते हैं। इसके फिरभी आचार्योंने आठ भेद बतलाये हैं—

१ भावशुद्धि २ कायशुद्धि ३ विनयशुद्धि ४ ईर्यापथ-शुद्धि ५ भिक्षाशुद्धि ६ प्रतिष्ठापनशुद्धि ७ शय्यासनशुद्धि और ८ वाक्यशुद्धि) इनका तत्पर्य इस प्रकार है—

भावशुद्धि--कर्मोके क्षयोपशमसे उत्पन्न मोक्षमार्गमें रुचिकरनेसे उज्ज्वलताको प्राप्त तथा रागादि विकारोंसे रहित भावशुद्धि होती है। इसके होतेही आचार प्रकाशरूप होता है। जैसे निर्मल दीवाल पर चित्राम प्रदीप्त होता है, उसी तरह जिसकी रागादिक उपद्रव रहित भावशुद्धि होगी उसीका आचार सुशोभित होगा।

कायशुद्धि—जिसका शरीर वस्त्रादिक आभरण और आभूषणादि रहित है। स्नानविलेपनादि संस्कार रहित है। शरीरपर पसीनासे धूल लिपट रहे नेत्र, भ्रकुटी, गर्दन, हाथ पैरादिसे विकार रहित हैं और जिसकी सब जगह यत्नाचार रूप प्रवृत्ति होती है मानो मूर्तिधारी प्रशमभावके सुखको ही दिखाती है ऐसी कायकी शुद्धिता जिससे अन्य

जीवोंको आपसे भय नहीं हो, तथा आपसे अन्य जीवोंको भय न हो, सो कायशुद्धि है।

विनयशुद्धि–अर्हंतादिक परम गुरुओंमें यथायोग्य पूजा स्तवन बंदनादिकमें लीन और सम्यग्ज्ञानादिमें यथोचित विधिसे युक्त और संपूर्ण कार्योंमें गुरुओंके अनुकूल प्रवृत्तिकर सहित और प्रश्न स्वाध्याय, वाचना, कथा विज्ञप्ति इत्यादि-कोंके स्वीकार करनेमें प्रवीण तथा देश काल भावोंका यथावत जानने वाले, ऐसे आचार्योंके अनुकूल आचरण करना सो विनयशुद्धि है। यह संपूर्ण त्रैलोक्यकी संपदाकी मूल है, विनयशुद्धि ही संसार समुद्रसे तारनेके लिये जहाजके समान है।

ईर्यापथशुद्धि—नाना प्रकारके जीवोंके स्थान तथा जीवोंके उत्पत्ति योग्य योनिस्थान और जीवोंके रहनेके ठिकाने इनके ज्ञान करनेसे उत्पन्न यत्नाचारसे प्राणियोंकी पीडाका परिहार कर जिसमें गमन हो और अपने अंतरंगमें ज्ञानका प्रकाश और बाह्यमें सूर्यका प्रकाश तथा अपनी नेत्रे-न्द्रियके प्रकाशसे देखे हुए क्षेत्रमें गमन करना, जिसमें शीघ्र गमन न हो और न विलंबसे गमन हो, संभ्रमरूप, विस्मय रूप, क्रीडाविकार दिगंतरावलोकनादि दोष रहित गमन हो सो ईर्यापथशुद्धि है। इसके होनेसे संयम प्रतिष्ठित होता है। जैसे सुन्दर नीतिसे विभव प्रतिष्ठित होती है।

भिक्षाशुद्धि— मुनि जब भिक्षाको जावें तब शरीरको आगे पीछे नेत्रोंसे देखकर है गमन जिसमें, शरीरके अगले पिछले अंग पर पीछी फेरनेका है विधान जिसमें तथा आचारांग सूत्रमें भिक्षाका जैसा विधान देश कालका बतलाया है उसका है जानना जिसमें, भोजनके लाभमें तथा अलाभमें, सन्मानमें अपमानमें समान है मनकी वृत्ति जिसमें, लोकनिंद्य कुलके त्यागने में तत्पर, चंद्रमाके गमन की तरह हीन अधिक घरमें समान है गमन जिसमें, दीन अनाथोंके घर तथा दानशाला विवाह गृहादिकमें गमन करनेसे रहित, दीनवृत्ति रहित, प्राशुक आहारके देखनेमें सावधान, शास्त्रमें कहे गये मार्गके अनुसार आहारके प्राप्त करनेमें प्राणियोंकी रक्षा करना मात्रही है फल जिसका, लाभ अलाभमें सुन्दर रसरूप आहारमें और विरस आहारमें समान है संताप जिसमें ऐसी आगममें भिक्षा कही गई है सो ऐसी भिक्षाका लेना भिक्षाशुद्धि है।

भिक्षाकी ५ वृत्तियां होती हैं– गोचरीवृत्ति १ अक्षमृक्षणवृत्ति २ उदराग्निप्रशमनवृत्ति ३ भ्रमराहारवृत्ति ४ गर्तपूरणवृत्ति। इस तरह पांच प्रकारकी भिक्षावृत्ति होती है। अब इनके लक्षण कहते हैं।

(१) गोचरीवृत्ति–जैसे लीला आभरणादि सहित, अच्छे घासको लाने वाली स्त्री द्वारा लाए हुए घासको गाय

चरती है, पर वह गाय उस स्त्रीके रूप संपदा आभरणादि के देखनेमें तत्पर नहीं होती है, वह तो केवल घास चरनेमें लीन रहती है। उसी तरह साधु भिक्षाके देने वाले मनुष्यों का कोमल ललित रूप, सौंदर्य वेष, विलास देखनेमें निरुत्सुक होता हुवा शुष्क आहार, जल घृतादि रहित आहारमें भेद न विचारते हुए जैसा भी रस नीरस, शीत उष्ण, कठिन कोमल, दाता दे उसको उसी रूप भक्षण करते हैं। इस लिये गौकी तरह जिसमें भक्षण हो उसको भोचरीवृत्ति कहते हैं।

अक्षमृक्षणवृत्ति–जैसे व्यापारी नाना प्रकारके रत्नोंके भारसे भरी हुई गाडीको तैलसे ओंगकर अपने इष्ट प्रदेशको ले जाता है। उसी तरह मुनि गुण रूपी रत्नोंसे भरी हुई देह रूपी गाडीको निर्दोष भिक्षा देकर अपने वांछित समाधिमरणको प्राप्त करते हैं। अर्थात् समाधिमरण पर्यंत ले जाते हैं, सो अक्षमृक्षण नामकी वृत्ति है। अक्षमृक्षण नाम गाडी के ओंगने (वांगने) का है।

उदराग्निप्रशमनवृत्ति–जैसे भंडारमें लगी हुई अग्निको जिस किसी प्रकारके जलसे गृहस्थी बुझाता है। उसी तरह साधु भी पेटमें प्रकुपित हुई भूखरूपी अग्निको रस नीरस भोजनसे बुझाते हैं, उसको उदराग्निप्रशमनवृत्ति कहते हैं।

भ्रमराहारवृत्ति–जैसे भौंरा पुष्पको बाधा नहीं पहुंचाता

हुआ पुष्पकी गंधको ग्रहण करता है। उसी तरह साधु भी दातारको कुछ भी बाधा नहीं पहुंचाता हुवा आहार ग्रहण करता है सो भ्रमराहार भिक्षा है।

गर्तपूरणवृत्ति-जैसे गृहस्थ अपने घरमें हुए खड्डको पत्थर रेता मिट्टी आदिसे भर देता है। उसी तरह साधु भी उदर रूप गड्डेको रूखा चिकना कोमल कठोर शीत उष्ण जैसा भी दातारसे भोजन मिल जाता है उससे उदररूप गड्डेको भर लेता है इसीको गर्तपूरणवृत्ति कहते हैं।

प्रतिष्ठापनशुद्धि-साधु अपने नख, रोम, नासिकामल, कफ, वीर्य, मूत्र, मलादिकका करें सो देशकालको जानकर जिस प्रकारसे किसी जीव मात्रको बाधा न हों, उसके परिणाम नहीं बिगडें, मार्गमें आने जाने वालोंको ग्लानि उत्पन्न न हो ऐसे प्राशुक चौपट रूप भूमिपर क्षेपण करे सो प्रतिष्ठापनशुद्धि है।

शयनासनशुद्धि-जहां स्त्रियोंका आना जाना हो, नीच पुरूष खडे रहते हों, चोर शराबी शिकारी कुकर्मादि करने वाले हों तथा शृंगारके विकार शरीरके विकार सहित उज्ज्वल वेषको धारण करने वाली वेश्या कुलटादिक जहां हों, क्रीडासामग्री सहित गीत नृत्य वादित्रादि से व्याप्त ऐसे स्थानोंका दूरसे ही त्याग करैं, तिर्यंच, रोगी पुरुष, मार्गमें आने जाने वालोंके स्थानको छोडकर, अकृत्रिम गुफा,

वृक्षोंके कोटरादि, तथा कृत्रिम शून्य गृहादिक, अपने लिये नहीं बनाये गये ऐसे जंतुकी बाधा रहित प्रासुकस्थानोंमें, बनके प्रदेश, पर्वतोंकी शिखर वालूके टीवा इत्यादिक निर्दोष स्थानोंमें शयनासन करै सो शयनासनशुद्धि है।

वाक्यशुद्धि—वाक्यशुद्धिका धारक साधु ऐसे वचन बोले जिनसे पृथ्वीकायादिक छह कायके जीवोंकी बाधा उत्पन्न न हो, पृथ्वी आदिके आरंभकी प्रेरणा न हो, जो वचन कठोर निष्ठुर परको पीडा पहुंचाने वाला न हो, जिस वचनसे मिथ्यात्व असंयमादिक न होजावें, जो राग द्वेष मोहके नाश करनेमें तत्पर हों, व्रतशील उपदेशादिक जिसके प्रधान फल हों पर सांसारिक फल नहीं हों, जो आपापरका हित रूप हो, प्रमाणीक अल्प अक्षर रूप हो मधुर हों, मनोहर हों संयमीके योग्य हों ऐसे वचनका उच्चारण करना सो वाक्यशुद्धि है।

इस प्रकार इन शुद्धियोंसे मनमें तो पवित्रता आजाती है पर इस शरीरमें पवित्रता नहीं आती हैं। देखिये इस शरीरके कारण केवडा, चंदन, इतर तेलादिक सुगंधित पदार्थ भी ग्लानिप्रद होजाते हैं।

कवित्त—प्याजकी गांठ हजारन बारहिं कंचन थालमें धोय बहाई
केशरके पुट बीसक देकर चंदन रूखकी छांय सुखाई॥
बेलकलीमें लपेट भरी पर आखिर बासवोही फिर आई।

ऐसीही नीच कुलीनकी सोबत टेव जाइ पर कुटेव न जाई

इससे विचार तो करो, ऐसे अपवित्र शरीरको धर्ममें लगाकर अपना आत्मकल्याण क्यों नहीं करना चाहिये ? ऐसाही उपदेश सिद्धांत शास्त्रोंमें भगवान तीर्थंकर, गणधर देव परंपरागत आचार्योंने दिया है। उसको आदरपूर्वक ग्रहण करना चाहिये।

येआठ प्रकारकी लौकिक शुद्धि हैं। सो ये शुद्धियां शरीर को पवित्र नहीं कर सकती हैं। क्योंकि शरीर अन्य पवित्र करनेवाले जलादिको भी अपवित्र करनेवाला है। शरीरका आदि कारण तो महा अपवित्र माताका रुधिर पिताका वीर्य है और उत्तर कारण आहारका परिणमनादिक है। मनुष्य और तिर्यंचोंके कवलाहार है सो ग्रहण होते ही कफके स्थान को पाकर अतिद्रव्य रूप होकर अधिक अपवित्र हो जाता है। पीछे पित्ताशयको प्राप्त होकर पचकर महा अपवित्र हो जाता है। वह पचा हुआ वाताशयको पाकर वायुके द्वारा खल रस भावके भेद रूप होजाता है। मलमूत्रादिक तो खल भाग रूप हैं। रुधिर मांस मेदा मज्जा वीर्य ये रस भाग हैं। इन समस्त अशुचि पदार्थोंका कारण एकमात्र शरीर है। इस शरीरकी अपवित्रता दूर करनेको कुंकुम चंदन कर्पूरादिकके अनुलेपन तथा स्नानादिक समर्थ नहीं हैं। अंगार की तरह आपके आश्रित द्रव्योंको शीघ्रही अपने स्वभावकी

तरह अपवित्र करता है। इस प्रकार देहको अपवित्र देखकर भी ये मनुष्य उसमें प्रेम करता है, मानों पहिले कभी ऐसा शरीर पायाही नहीं है। इसी विचारसे शरीरका आदर करता है, उसकी सेवा करता है यही बडा अज्ञान है। इसलिये जो भव्य पुरुष परदेह जो स्त्री आदिककी देह उससे विरक्त होत। हुवा अपने देहमें भी प्रेम नहीं करता है उसके अशुचि भावना होती है। इस प्रकारके स्मरण करने वालेके शरीरसे वैराग्य होता है और तभी संसार समुद्रसे तरनेका प्रयत्न करता है।

आस्रवभावना

जीवपोतो भवाम्भोधौ मिथ्यात्वादिकरन्ध्रवान्।
आस्रवति विनाशार्थं कर्मांभःप्रचुरं क्रमात्॥

अर्थ—मिथ्यात्वादिरूप छिद्रवाला यह जीवरूपी नौका संसाररूपी समुद्रमें अनादिकालसे पडा हुवा है। यह अपने विनाशका अनुभव नहीं करता हुवा कर्मरूपी जालको मोह (मिथ्यात्व) के आधीन होकर रात दिन खींचता रहता है, जिसका एक समयभी ऐसा नहीं जो कर्मोके आस्रवसे वंचित हो।

बुधजनजी— कोई खरा कोई बुरा नहिं वस्तु विविध स्वभाव है।
तू वृथा विकलप ठानि मनमें करत राग उपाव है॥
यूं भाव आश्रव बनत तूं हि द्रव्य आश्रव सुनि कथा।

तुझ हेतुसे पुद्गल करम बिन निमित्तही देते व्यथा ॥
मणवयणकायजोया जीवपयेसाणफंदणविसेसा ।
मोहोदयेणजुत्ता विजुदाविय आसवा होंति ॥

अर्थ—मन वचन कायका निमित्त पाकर जीवके प्रदेशोंका चंचल होना सो योग है और जो योग है वही आस्त्रव है । वे आस्रव गुणस्थानकी परंपरामें सूक्ष्मसापराय नामक दशमें गुणस्थानतक तो मोहके उदयरूप यथासंभव मिथ्यात्व कषाय सहित होता है ऐसे आस्रवको सांपरायिक आस्रव कहते हैं । दशवें गुणस्थानके ऊपर तेरहवें गुणस्थान तक मोहोदयसे रहित हैं । ऐसे आस्त्रवको इर्यापथ आस्रव कहते हैं । जो पुद्गलवर्गणा कर्मरूप परिणमती हैं उनको द्रव्यास्रव कहते हैं, जीवके प्रदेशोंके चंचल होनेको भावास्रव कहते हैं । कर्मबंधके कारणको आस्रव कहते हैं आस्रवके पांच कारण माने गये हैं-मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग । इनमेंसे स्थिति अनुभाग रूप बंधके कारण मिथ्यात्वादिक चारही हैं सो ये चारों मोहकर्मके उदयसे होते हैं । योग समयमात्र बंधको करने वाले हैं, स्थिति अनुभागके करनेवाले नहीं हैं । इसीसे बंधके होनेमें इसकी प्रधानता नहीं हैं । पुण्य पापके भेदसे कर्म दो प्रकारका है । इस प्रकारके भेदका कारणभी दो प्रकारका है एक प्रशस्त दूसरा अप्रशस्त । मंदकषाय रूप परिणामको प्रशस्त

कहते हैं और तीव्रकषाय रूप परिणामको अप्रशस्त कहते हैं। प्रशस्त तो शुभ हैं और अप्रशस्त अशुभ हैं। भाव ये है कि सातावेदनीय. शुभायु, शुभनाम शुभगोत्र ये तो पुण्यकर्म हैं। और असातावेदनीय, अशुभायु, अशुभनाम और अशुभ-गोत्र ये पापकर्म हैं। इनका कारण आस्रव भी दो प्रकारका है-मंदकषाय रूप परिणाम तो पुण्यास्रव है और तीव्रकषाय रूप परिणाम पापास्रव है। मंदकषायके परिणाम-जैसे-शत्रु मित्र आदि सभी जगह हितमित प्रियवचन और दुर्वचन सुनकरभी दुर्जनमें भी क्षमा धारण करना, सब जीवोंके गुण ही ग्रहण करना ये मंदकषायके परिणाम हैं। तथा अपनी तो प्रशंसा करना और पूज्य पुरुषोंके भी दोष ग्रहण करनेका स्वभाव रखना, वहुत समयतक वैरभाव धारण करना ऐसे परिणाम तीव्र कषायके चिन्ह हैं। सो आस्रव भावनामें ऐसा चिंतवन करना कि मिथ्यात्वादि पांच, कर्मोंके आस्रवके कारण हैं। आस्रवही संसार परिभ्रमणका कारण है तथा आत्माके गुणोंका घातक है। जीव इन्द्रियोंके आतापसे महा दुख भोगता है। मोहके उदयसे होनेवाले जीवके परिणाम ही आस्रव कहलाते हैं। इन मिथ्यात्वादिक आस्रव भावोंसे पुण्य पाप रूप कर्मोंका आगमन होता है। वही संसारमें परिभ्रमण कराता है। इस प्रकार आस्रवोंके दोषोंका चिंतवन करना सो आस्रव भावना है। आस्रव भावनाका चिंतवन

कर्मोंके नाशकी उत्तमक्षमादि दश लक्षण धर्ममें दृढ बुद्धि होती है जिससे आस्रवके निरोधमें यत्न करता है।

अथ संवर भावना निरूपण—

कर्मास्रवनिरोधोऽत्र संवरो भवति ध्रुवम्।
साक्षादेतदनुष्ठानं मनोवाक्कायसंवृतिः॥

अर्थ—हे आत्मन् तू यह निश्चय कर कि मन वचन कायकी क्रियाके रोक देनेसे आत्मामें आते हुए कर्म रुक जाते हैं, इसीको संवर कहते हैं। ये संवर मोक्षप्राप्तिका कारण है।

बुधजनजी—

तन भोगजगत सरूप लखि उर भविक गुरु शरणा लिया।
सुन धर्म धारा भर्म गारा हर्षि रुचि सन्मुख भया॥
इन्द्रिय अनिंद्रिय दाबि लीनी त्रस रु थावर वर तजा।
तब कर्म आस्रव द्वार रोका ध्यान निजमें जा सजा॥

समत्तं देसवयं महव्वयं तह जओ कसायाणं
एदे संवरणामा जोगा भावो तहच्चेव॥

अर्थ—सम्यक्त्व, देशव्रत, महाव्रत तथा कषायोंका निग्रह, योगोंका निरोध ये सब संवरकेही नाम हैं। पहिले आस्रव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इस प्रकारसे पांच प्रकारका कहा गया है, उनको अनुक्रमसे रोकना ही संवर है। वह इसप्रकार कि-मिथ्यात्वका अभाव

तो चतुर्थ गुणस्थानमें हो जाता है इसलिये वहां मिथ्यात्व का संवर हुवा। अविरतिका अभाव एकदेश तो देशविरति नामा पांचवें गुणस्थानमें और सर्वथा विरति प्रमत्त विरत नामक छट्ठ गुणमें हुआ, इसलिए यहां अविरतिका संवर हो जाता है। अप्रमत्त गुणस्थानमें प्रमादका अभाव होजाता है इसलिये सातवें गुणस्थानमें प्रमादका संवर होजाता है। बारहवें गुणस्थानमें कषायका अभाव होजाता है इसलिये यहां कषायका संवर होजाता है। अयोगि गुणस्थानमें योगों का अभाव होजाता है इसलिये यहां योगोंका संवर होजाता है। इस प्रकार संवरका क्रम है। मनगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति, ईर्या, भाषा, ऐषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठा-पना ऐसी पांच समिति, उत्तमक्षमादि दश लक्षण धर्म, अनित्यादि बारह भावनाएं, क्षुधा तृषा आदि बाईस परीषहों का जीतना, सामायिकादि पांच प्रकारका उत्कृष्ट चारित्र ये सब विशेष रूपसे संवरके कारण हैं। इनमेंसे योगोंका निरोध करना तो गुप्ति है। प्रमादका त्यागकर यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करना सो समिति है। जिसमें दयाकी प्रधानता हो सो धर्म है। जीवादि तत्व तथा निजस्वरूपका चिंतवन करना सो अनुप्रेक्षा है। अत्यंत भयंकर रौद्र परिणातिको पैदा करने वाले क्षुधादिका जीतना सो परीषहजय है। आत्मस्वरूप वस्तुका विचार करते हुए रागादि दोषरहित

धर्म शुक्ल ध्यानमें लीन होना सो उत्तम चारित्र है। जो मनुष्य इन संवरके कारणोंका आचरण नहीं करता है सो दुःखोंसे तप्तायमान होकर बहुत समयतक संसारमें भ्रमण करता है। इसलिये जो मुनि इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त होकर मनके प्रिय विषयोंमें हमेशा आत्माको निश्चयसे संवर रूप करता है उसके नियमसे संवर होता है। इस प्रकारके चिन्तवनको संवरभावना कहते हैं। संवरमें आत्मस्वरूपका चिंतवन होता है इसलिये हे आत्मन् सबसे पहिले आत्मस्वरूपके विचारमें ठहरनेकी कोशिश कर। आत्माका स्वरूप शुद्ध बुद्ध चित् चमत्कार रूप अपनेही शरीरमें विराजमान है। वही बतलानेको बतलाया गया है—

परमानदसंयुक्तं निर्विकारं निरामयम्
ध्यानहीना न पश्यंति निजदेहे व्यवस्थितम्॥परमानंदस्तोत्र॥

अर्थ-परमानंद सहित, रागादि विकारोंसे रहित, ज्वरादिक रोगोंसे मुक्त, निश्चय नयसे अपने शरीरमें ही विराजमान परमात्माको ध्यान हीन पुरुष नहीं देख पाते। फिर कैसा है यह आत्मा—

निर्विकारं निराबाधं सर्वसंगविवर्जितम्।
परमानंदसम्पन्नं शुद्धचैतन्यलक्षणम्॥ परमानंद स्तोत्र

अर्थ-रागादिक विकारोंसे रहित, अनेक प्रकारकी सांसारिक बाधाओंसे दूर, संपूर्ण परिग्रहोंसे शून्य, परमानंद

विशिष्ट, शुद्ध केवल ज्ञान रूप, चैतन्य परमात्माका लक्षण जानना चाहिये। आगे—

तीर्थ दिवाले देव ना देह दिवालय देव।
जिनवाणी गुरु यों कह्यो निश्चय जानो एव ॥४२॥ दर्पण

कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि जब तक यह जीवात्मा अपने आत्माको शुद्ध बुद्ध चिदानंद स्वरूप समझकर उसमें रमण नहीं करता है, तब तक कितना ही ज्ञान प्राप्त कर लेवे उससे कुछ नहीं होगा। स्वात्मानुभव बिना यथार्थ आत्म श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन नहीं होता। वही बात बतलाई है—

ग्यारह अंग पढे नव पूरव मिथ्यामत जिये करे बखाण
दे उपदेश भव्य समझाये ते पदवी पावत निर्वाण।
अपने जियमें मोहगहलता नहिं उपजत सत्यारथ ज्ञान
ऐसे बहुश्रुतके पाठी भी फिरें जगत भाखा भगवान॥

इसलिये हे भव्य हो यदि संवर करना चाहते हो तो पं. दौलतरामजीके कहे अनुसार आचरण करो—

शमदमतें जो कर्म न आवें सो संवर आदरिये।

अर्थात्—कषायोंके उपशम करने और इन्द्रियोंको वशमें करनेसे जो आते हुए कर्मोंका रुक जाना सो सवर है कहनेका तात्पर्य ये है कि कषाय और इन्द्रियां जीवके साथ नवीन कर्मोंके बंध होनेमें कारण हैं। क्योंकि संसारी जीव

इन्हींके वशमें रहकर निज कर्तव्यको भूले हुए हैं। कषाय और इन्द्रियोंका जयही करना चाहिये। यही इसका कर्तव्य हैं। यदि अपने कर्तव्यको यह जीव करने लग जाय तो फिर संसारका अन्त बिलकुल निकट समझना चाहिये। संवर करना ही संसारीका कर्तव्य होना चाहिये, संवरसे मोक्षका मार्ग मिलता है। इस प्रकारके चिंतवन करनेको संवर भावना कहते हैं।

अथ निर्जरा भावना–

निर्जरा शातनं प्रोक्ता पूर्वोपार्जितकर्मणाम्।
तपोभिर्बहुभिः सा स्याद्वैराग्याश्रितचेष्टितैः॥

अर्थ–अनादि कालसे यह जीव संसार रूपी चक्रमें फँसकर तीन लोकमें अरहटकी घड़ीके समान घूम घूम कर कर्मोंका हर समय बंध करता रहता है, और समय पूर्ण होने पर छोडता रहता है। जो कर्म अपनी अवधि पूरी करके आत्मासे संबंध छोडते हैं, उसको सविपाक निर्जरा कहते हैं। ऐसी निर्जरासे जीवका कुछभी भला नहीं होता है। ऐसी निर्जरा तो संसारी जीवोंके हमेशा होती रहती है। तप आदिके निमित्तसे जो कर्म असमयमें सम्बन्ध छोडकर अलग हो जाते हैं उसको अविपाक निर्जरा कहते हैं। ऐसी निर्जराही कार्यकारी होती हैं। क्योंकि ऐसी निर्जरासे आत्मा के साथ नवीन कर्मोंका संबंध नहीं होता है छह ढालामें

कहा गया है कि-

निजकाल पाय विधि तासौं, निज काज न सरना।
तपकर जो कर्म खिपावै, सोई सिव सुख दरसावे ॥

बुधजनजीने कहा है कि-

तज शल्य तीनों वरत लीनों बाह्य आभ्यंतर तप तपा।
उपसर्ग सुर नर जड पशूकृत सहा निज आतम जपा ॥
तब कर्म इस विन होन लागे द्रव्य भाव रु निर्जरा।
सब कर्म हरकैं मोक्ष वरकैं रहत चेतन ऊजरा ॥

पूर्वोपार्जित जो कर्मोंका संचय था उन कर्मोंमेंसे धीरे धीरे कर्मोंका नाश होना निर्जरा है। निर्जरा नाना प्रकार के तप करनेसे तथा राग द्वेषके त्याग करनेसे, इन्द्रियोंके दमन करनेसे, वैराग्यरूप परिणमन करनेसे होती है। अन्यथा पदार्थके स्वरूपके समझनेमें मस्त रहकर ऐसा ख्याल करना कि हमें तो तत्त्वज्ञान हो गया इसलिये राग द्वेषादि त्यागने रूप आचरण करनेसे क्या लाभ है? ऐसे आचरणमें कभी निर्जरा नहीं हो सकती है। केवल तत्वज्ञान कर लेनेसे निर्जरा नहीं होती है किन्तु ज्ञानके अनुसार आचरण करनेसे निर्जरा होती है। ठीक है-तत्त्वज्ञानमें मस्त रहनेसे दर्शनमोह सरीखे कर्मोंका बंध नहीं होगा परंतु आगामी चतुर्थ गुणस्थानके ऊपर जितने भी शुद्ध या शुद्ध भाव रूप परिणाम कहे गये हैं वे सब निर्जराके बा

राग द्वेषके मन्द करनेके ही कारण हैं। न कि कवल पदार्थ का स्वरूप विचारना ही कारण है। यही बात बतलाई जाती है कि स्वरूप विचारने लायक योग्यता होनेपर ही आत्मा अपने स्वरूपकी तरफ झुकता है। ऐसी योग्यता विरोधी कर्मके अभाव हुए बिना होती नहीं है। निर्जरा होनेको तो चारित्र प्रधान कारण है, क्योंकि चारित्रका लक्षण बतलाया है कि संसारकी कारण रूप बाह्य आभ्यन्तर क्रियाओंका रोकना ही चारित्र है। बाह्य क्रियाएं हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील परिग्रह हैं। आभ्यन्तर क्रियाएं क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष मोहका करना है। संसारमें भ्रमानेवाली यही क्रियाएं हैं। इनका रोकना दो तरहसे होता है एक मोटे रूपसे दूसरे सर्वथा। गृहस्थ तो मोटे रूपसे त्याग करता है पर साधु सर्वथा त्याग देते हैं। इनके त्यागसे ही कर्मोंकी निर्जरा होती है। जो सम्यग्ज्ञानी अहंकार मद रहित हुव निदान रहित वीतराग भावनासे तप करता है उसके कर्मोंकी भारी निर्जरा होती है। सम्पूर्ण कर्मोंकी शक्ति का उदय होना सो अनुभव है वही कर्मके रसका अनुभव है। रस देनेके बाद नियमसे कर्म झड जाते हैं सो ही सिद्धान्तमें कहा गया है 'विपाकोऽनुभवः' 'ततश्च निर्जरा' वह निर्जरा संसारी जीवोंके चारों ही गतियोंमें समय पाकर के होती है ऐसी निर्जराका नाम ही सविपाक निर्जरा है।

और तप व्रत संयमके प्रभावसे जो निर्जरा होती है वह अविपाक निर्जरा है। जैसी जैसी संयमियोंके उपशम भावकी तपकी वृद्धि होती जाती है वैसी वैसी निर्जराकी वृद्धि होती जाती है। जो साधु कषायोंका निग्रह करके दुष्टोंके द्वारा किये गये अनेक प्रकारके घोर उपसर्गोंको सहन करते हैं, शरीरको विनाशीक जड स्वभाव जान कर अपने ज्ञान दर्शन स्वभावको अखण्ड अविनाशी अनुभव करते हुए संक्लेश रहित मन और इन्द्रियोंका निग्रह करके अपने स्वरूपमें लीन होते हैं उनके परम निर्जरा होती है। निर्जरा ही मोक्षका कारण है। ऐसा चिन्तवन करनेसे बडी निर्जरा जानकर भावना करनी उचित है। इति निर्जरा भावना॥

अब लोकभावना कहते हैं—

लोकः सर्वोऽपि सर्वत्र सापायस्थितिरध्रुवः।
दुःखकारीति कर्तव्या मोक्ष एव मतिः सता॥

अर्थ—हे संसारी भव्यो! जिसको आप लोग देख रहे हो वही तो लोक है। इसीमें सब तरहके कर्मोंके खेल होरहे हैं। इसीमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्योंकी स्थिति है। यह लोक ३४३ घनाकार राजू प्रमाण है। इसकी आधे मृदंगके ऊपर एक मृदंग के रखनेसे जो शकल बनती है उसी प्रकारकी शकल है अर्थात् पुरुषाकार है, यह चौदह राजू ऊंचा और ७ राजू लम्बा चौडा

तथा पूर्व पश्चिम सर्वत्र मोटा है। इसकी यथावत् रचना जानना हो तो त्रिलोकसार और त्रिलोकप्रज्ञप्तिका स्वाध्याय करो, यह लोक महा दुखकारी है। इसीमें चार गति और उनमें ८४ लाख जीवोंके उत्पन्न होनेकी योनियां हैं। यह लोक दुःखका ही घर है, इसलिए आपको मोक्ष प्राप्त करनेमें ही अपने उपयोगको लगाना चाहिए।

मंगतरायजी अपनी बारह भावनामें लिखते हैं—

लोक अलोक अकाश मांहि थिर निराधार जानो।
पुरुष रूप करकटी भये षट द्रव्यनसों मानो॥
इसका कोइ न करता हरता अमिट अनादी है।
जीव रु पुद्गल नाचै इसमें कर्म उपाधि है॥
पाप पुण्यसों जीव जगतमें नित सुख दुख भरता।
अपनी करनी आप भरै शिर औरनके धरता॥
मोहकर्मको नाश मेट कर सब जगकी आशा।
निज पदमें थिर होय लोकके करो शीश वासा॥

लोकभावनामें ऐसा बिचार करना चाहिए कि- सर्व तरफ अनन्तानन्त क्षेत्र रूप आकाश द्रव्य है। उसके अत्यंत मध्यमें छह द्रव्योंका समुदाय रूप लोक है। सो लोक चौदह राजू ऊंचा है। और दक्षिण उत्तर नीचे ऊपर मध्यमें सब जगह सात राजू मोटा है। पूर्व पश्चिममें नीचे तो सात राजू है पीछे ऊपर अनुक्रमसे

घटकर सात राजूकी उंचाईपर चौडाई मध्य लोकमें एक राजू है। फिर अनुक्रमसे घटकर साढे दस राजूकी ऊंचाई पर पांच राजू चौडाई है। फिर चौदह राजू ऊंचाईपर लोक के अंतमें चौडाई एक राजू है। इसप्रकार लोकका पूर्व पश्चिमका विस्तार है। इस लोकके मध्यमें एक राजू लम्बी एकही राजू चौडी चौकोर चौदह राजू ऊंची लोकके नीचे वातवलयके अंतसे ऊपर लोकके अंत पर्यंत त्रसनाली है। त्रस जीव इस त्रस-नालीमें ही हैं। नरक, भुवनलोक, मध्यलोक, व्यंतरलोक, तिर्यग्लोक, ज्योतिर्लोक, स्वर्गलोक, मुक्तिस्थान ये सब त्रस-नालीमें ही हैं। त्रसनालीके बाहर उपपाद, मारणांतिक और समुद्घातके विना त्रसका गमन नहीं है। स्थावर जीव संपूर्ण लोकमें पाये जाते हैं। विकलत्रय जीव तथा असंज्ञी पंचेंद्रिय तिर्यंच कर्मभूमिके एकसौ सत्तर क्षेत्रमें हैं। और अंतके स्वयंभूरमण द्वीपके अर्धभाग में, समस्त स्वयंभूरमण समुद्र में और उसके बाहर च्यारों कोनोंमें ही हैं। बाकीके संपूर्ण असंख्यात द्वीप समुद्रोंमें नहीं हैं। ऊर्ध्वलोक अधोलोकमें भी विकलचतुष्क नहीं हैं। मनुष्य अढाई द्वीपमें ही हैं। अढाई द्वीपके बाहर आधास्वयंरमण द्वीप पर्यन्त हेमवतक्षेत्र की जघन्य भोगभूमिके तिर्यचों समान पंचेन्द्रिय तिर्यंचही हैं। लवणोदधि कालोदधि और अंतके स्वयंभूरमण समुद्र इन तीन समुद्रमें ही जलचर जीव हैं। अन्य असंख्यात

द्वीपोंमें नहीं हैं। संपूर्ण रचना जाननी हो तो राजवार्तिक सर्वार्थसिद्धि अर्थप्रकाशका स्वाध्याय करो। इस लोकके अन्तमें नीचे ऊपर मध्यमें सर्वत्र तीन तरहकी वायु फैली हुई है। तीन सौ तेतालीस राजू प्रमाण आकाश रूप क्षेत्रके संपूर्ण प्रदेशोंमें तिलमें तेलकी तरह धर्मद्रव्यके और अधर्म-द्रव्यके असंख्यात प्रदेश व्याप्त हो रहे हैं। और उसही असंख्यात प्रदेश रूप लोकाकाशमें अनंतानंत जीवद्रव्य पाये जाते हैं। और इसीमें जीवराशिसे अनंतानंत गुणे पुद्गल मौजूद हैं। इस लोकके ही असंख्यात प्रदेशोंमें अलग २ एक २ भिन्न रूपसे कालद्रव्य ठहरे हुए हैं। इस प्रकार छहों द्रव्योंका समुदाय रूप लोकाकाशमें ये जीव अनंतानंत कालसे मिथ्यात्वके वशमें परद्रव्योंको अपना मानकर परि-भ्रमण करता है। पुद्गल जनित पर्यायमें ही अहंकार मान रहा है। जिसमें भिन्न २ जातिके नाना प्रकारके कर्मोंका नवीन २ बंध करता है, उससे चारों गतियोंमें नाना प्रका-रके दुःखोंको भोगता है और जबतक अपने स्वरूपके संमुख नहीं होता है, परद्रव्योंमें आपा मान उनमें ही उलझा रहेगा तबतक इस संसारसे निकल नहीं सकता है। इस प्रकारका चिंतवन करना लोक भावना है। ऐसी लोकभाव-नाका चिंतवन करनेसे संपूर्ण द्रव्योंके भिन्न भिन्न गुण पर्या-योंके स्वभाव जाननेसे जीव द्रव्यका स्वभाव भी जानाजाता

हैं। उन जीव द्रव्योंमें अपना आत्माभी है सो उसका निश्चय कर दूसरेमें जो उलझन होती है उस उलझनसे अपेन को निकालकर मोक्षके लिये प्रयत्न करना चाहिये।

बोधि दुर्लभ भावना निरुपण-

रत्नत्रयपरिप्राप्तिर्बोधः सातीव दुर्लभा।
लब्धा कथं कथंचिच्चेत् कार्यो यत्नो महानिह॥

अर्थ-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों रत्नत्रय कहे जाते हैं। जैसे लोकमें रत्नके प्राप्त हो जानेसे लोग सुखी हो जाते हैं, उनकी इज्जत होने लगती है, लोग आदरकी दृष्टिसे देखने लगते है उसी प्रकार इन तीनों रत्नोंकी प्राप्ति हो जाने पर यह जीव तीन लोकमें महान हो जाता है। उसकी मान्यता होने लगती है। तीनों लोकोंके महर्द्धिक जीव उसकी इज्जत प्रतिष्ठा और पूजा करने लगते हैं। परंतु जैसे रत्नकी प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है, हर एक व्यक्तिको नहीं मिल सकती है, महान पुण्याधिकारीकोही मिलती है, उसी तरह जिस जीवका संसार निकट आ जाता है, जिसकी काल लब्धि पक जाती है, तथा जिसका पुण्य अतिशयको प्राप्त हो गया हो, उसीको इस रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है। यह प्राप्ति किसी २ प्रकार होती है। इसकी प्राप्तिके लिये महान प्रयत्न करना चाहिये।

कविवर मंगतरायजीने कहा है--

दुर्लभ है निगोदमें थावर अरु त्रसगति पानी
नरकायाको सुरपति तरसे सो दुर्लभ प्रानी।
उत्तम देश सुसंगति दुर्लभ श्रावक कुल पाना
दुर्लभ सम्यक् दुर्लभ संयम पंचम गुणठाना॥
दुर्लभ रत्नत्रय आराधन दीक्षाका धरना।
दुर्लभ मुनिवरको व्रत पालन शुद्ध भाव करना॥
दुर्लभसे दुर्लभ है चेतन बोधिज्ञान पावे।
पाकर केवल ज्ञान नहीं फिर इस भवमें आवे॥

इसका भाव ये है कि-एक निगोद शरीरमें अतीत कालसे सिद्धोंसे अनंतगुणे जीव हैं। ऐसे निगोद शरीरोंसे तथा पांच प्रकारके स्थावर जीवोंसे समस्त लोक खूब खचाखच भरा हुआ है। उनमें से त्रस पर्यायका पाना वालुका समुद्रमें हीराकी कणिकाकी तरह अत्यंत दुर्लभ है। त्रसोंमें ही कभी महान पुण्यकर्मका उदय आजाय तो द्वीन्द्रियमें लटकी पर्याय मिलजाय, यहांसे ही त्रसकायिक जीवकी मर्यादा दो हजार साधिक सागर काल मानी है। इतना समय बीत जाने बाद ऐसा नियम नहीं है कि आगे त्रीन्द्रियादि जीवोंमें जन्म लेते २ उत्तम मनुष्य पर्यायको ही पाजाता है। पापकर्म का उदय आजावे तो फिर एकेन्द्रियके शरीरमें जन्म धारण कर लेवे। त्रसजीवोंमें भी विकलत्रय जीवोंकी बहुलता है इसलिये पंचेन्द्रियपना पाना अत्यंत दुर्लभ है, जैसे गुणवं-

तोंमें कृतज्ञताका मिलना अत्यंत दुर्लभ है। कदाचित् पंचें-
द्रियभी होजावें तो उनमें पशु सिंह व्याघ्र मृग पक्षी सर्पा-
दिकोंकी बहुतसी पर्यायोंमें जाकर उत्पन्न होजावें, जैसे
चौराहेमें रत्नराशिका पाना अत्यंत दुर्लभ है उसी तरह
मनुष्यपना पाना अत्यंत दुर्लभ है। अगर मनुष्य-
पना पाकर छूट जाय तो फिरसे मनुष्य होना
ऐसा दुर्लभ है जैसे जले हुए वृक्षके पुद्गलोंका वृक्ष रूप होना
अत्यन्त दुर्लभ है। कभी मनुष्यपनाभी पाजावे तो हित-
अहितका विचार रहित पशुओंके समान मनुष्योंसे भरा
कुदेश बहुत हैं, इसलिये पत्थरोंमें मणिकी तरह उत्तम देश
पाना अत्यंत दुर्लभ है। कभी उत्तम देश भी पा जावे तो
पापकर्ममें लीन ऐसे कुकर्मके करने वाले कुल बहुत हैं
उनमें जन्म लेलेवे। और शील विनय संयमादिकोंको
धारण करने वाले कुल बहुत कम हैं। उनमें जन्म
नहीं पावें! अगर कुल भी उत्तम पा जावे और
थोडी सी उमरमें मर जाय तो ये सब सामग्री निष्फल हो
जाती है। अगर दीर्घायु भी हो जावे ती इन्द्रियोंकी परि-
पूर्णता दुर्लभ है। यदि इन्द्रिय सामग्री भी पा जाय तो
बल रूप नीरोगपना पाना दुर्लभ है। अगर सभी चीजें मिल
जावें और समीचीत धर्मका ग्रहण नहीं हुआ तो नेत्र रहित
मुखकी तरह व्यर्थ है। ये धर्मका पाना ही अति कठिन है।

धर्मको प्राप्त करके भी जो विषयोंके सुखमें रंजायमान हो जावे तो मानों भस्मके लिये चदनको जलाता है। जो विषय सुखसे विरक्त न हो उसकी तपकी भावना, धर्मकी प्रभावना, तथा संक्लेश रहित सुखरूप समाधि मरणकी भावना नहीं होती है। समाधि मरणके होने पर ही बोधिका लाभ होना फलवान होता है। इस प्रकारका चिंतवन करना बोधिदुर्लभ भावना है।

अब धर्मभावनाका कथन लिखा जाता है—

जिनधर्मोऽयमत्यंतं दुर्लभो भविनां मतः।
तथाग्राह्यो यथा साक्षादामोक्षं सह गच्छति ॥

अर्थ—हे भव्य पुरुषो, संसारमें सब पदार्थोंका मिलना सुलभ है लेकिन जिनेन्द्रदेव द्वारा बतलाया हुवा धर्मका मिलना अत्यंत दुर्लभ है। धर्म तो वही ग्रहण करना चाहिये जो मोक्ष प्राप्ति तक साथ देवे। अर्थात् जिसके धारण करनेसे जीवको मोक्षकी प्राप्ति हो वही धर्म है।

प्रश्न—आपने कहा है कि जिनदेव द्वारा बतलाया धर्म धारण करना चाहिये सो जिनदेवका ही क्यों, दूसरों के द्वारा प्रतिपादित धर्मका धारणा क्यों नहीं?

उत्तर—जिनदेव किसी खास व्यक्तिका नाम नहीं है उस महादेवका नाम है जिसमें निचे लिखे गुण हों और वे गुण इस प्रकार हैं-कहा है कि—

त्रैलोक्यं सकलं त्रिकालविषयं सालोकमालोकितं ।
साक्षाद्येन यथा स्वयं करतले रेखात्रयं सांगुलीः ॥
रागद्वेषभयामयांतकजरालोलत्वलोभादयो ।
नालं यत्पदलंघनाय स महादेवो मया वंद्यते ॥

अर्थ–जिस प्रकार हर एक मनुष्य तीन पोर सहित हाथकीअंगुलियोंको साक्षात प्रत्यक्ष देखता है उसी तरह जो अलोक सहित तीनों लोकोंके तमाम पदार्थोंको उनके त्रिकाळवर्ती गुण पर्यायों सहित एक साथ प्रत्यक्ष देखता–जानता है, और जिसमें राग द्वेष भय रोग बुढापा क्रोध मान माया लोभ चिंता अरति पसेव जन्म मरण विस्मय आदि दोष नहीं हैं। जो तमाम गुणोंका खजाना है ऐसा सर्वज्ञ रूप आत्मा महादेव है उसको बड़े २ प्रभाव शाली जीव वारंवार नमस्कार करते हैं और मैं भी नमस्कार करता हूं। सर्वज्ञ देव का कहा हुवा धर्म ही धर्म है उसीका धारण करना कार्यकारी हो सकता है। कहनेका तात्पर्य ऐसा है कि–जिस धर्मका स्वरूप कहना है उस धर्मका स्वरूप यथार्थ इन्द्रिय गोचर तो नहीं है वह तो अतीन्द्रिय है। छद्मस्थके इन्द्रियज्ञान है वह परोक्ष है सो धर्मका स्वरूप छद्मस्थके ज्ञानगोचर तो है नहीं। इसलिये जो संपूर्ण पदार्थोंके स्वरूपको प्रत्यक्ष देखता है वही धर्मके स्वरूपको भी प्रत्यक्ष देख सकता या जान सकता है। इससे धर्मका स्वरूप सर्वज्ञके

वचनसे निकलाहीं प्रमाण हो सकता है, छद्मस्थका कहा हुवा प्रमाण नहीं हो सकता है। छद्मस्थका कहा हुवा धर्म भी तब प्रमाण हो सकता है जब वह सर्वज्ञके वचनोंकी परंपरामें कहा गया हो। इसलिये धर्मके स्वरूपके वर्णन करनेके पहिले सर्वज्ञका स्थापन करना आवश्यक हैं।

प्रश्न—सर्वज्ञ तो संसारमें कोई दीखता नहीं, सर्वज्ञ २ कहना व्यर्थ है?

उत्तर–हे सर्वज्ञके अभाववादी! तूं कहता है कि संसारमें सर्वज्ञ कोई नहीं है सो ऐसा तेरा कहना प्रत्यक्ष विरोध रूप है। क्योंकि संसारमें जितने सिद्धांतवादी हैं वे सब सूक्ष्म स्थूल, दूरवर्ती समीपवर्ती, परोक्ष प्रत्यक्षको मानते हैं। यदि सर्वज्ञ नहीं हैं तो जो पदार्थ इन्द्रिय गोचर नहीं हैं ऐसे अतीन्द्रिय पदार्थोंको कौन जानता है ? इन्द्रियज्ञान तो स्थूल पदार्थ, इन्द्रियोंसे संबद्ध रूप वर्तमानमें हो उसीको जानता है, उसकी भी समस्त पर्यायोंको नहीं जानता है। धर्म और अधर्मका फल तो अतीन्द्रिय हैं उसको सर्वज्ञके बिना कौन जान सकता है ? इसलिये धर्म अधर्मके फलको चाहने वाले पुरुष सर्वज्ञकी सत्ता स्वीकार कर उसके वचनसे धर्मके स्वरूपका निश्चयकर स्वीकार करें।

सर्वज्ञदेवने धर्मका लक्षण वस्तु स्वभाव बतलाया है अर्थात् वस्तुके स्वभावको धर्म कहा है क्योंकि राग द्वेष

मोहादिक पर द्रव्यके उदय रूप मलसे रहित अपना निर्विकार ज्ञानदर्शन रूप होना सो धर्म हैं। अपने स्वरूपके बाहर दिशा विदिशामें आकाशमें पातालमें नदीमें समुद्रमें पहाड़में मंदिरमें प्रतिमामें शास्त्रादिकमें धर्म नहीं रक्खा है। द्रव्य खर्चनेसे मोल नहीं आता है, किसीके द्वारा दिया हुवा नहीं आता है। देहादिकके बलके आधीन वा नाना प्रकारके वेषके धारण करनेके अधीन नहीं है। ए तो समस्त क्रिया काण्डादिक बाह्य निमित्तमात्र हैं। जो आत्मा रागादिक परिणतिसे छूट कर शुद्ध वीतराग रूप ज्ञान परिणति को प्राप्त होजाता है, वह आत्मा धर्म रूप होजाता है। जो मंदिरमें भी जाकर धन हरण करेगा वा किसी स्त्री का हरण करेगा वा अवलोकन करेगा तथा कामसेवन करेगा भोजनादि विकथादि वा हिंसादि आरंभ करेगा वह पापी होगा ये काम मंदिरमें नहीं करना चाहिये क्योंकि ये तो धर्मायतन हैं। इनको धर्मायतन जानि केवल धर्म सेवन करेगा उसका कल्याण होगा। ये तो धर्म परिणति होनेको सहकारी कारण हैं। धर्म रूप तो चेतन ही परिणमेगा, धर्म तो जड़ रूप होगा नहीं। क्योंकि ऐसा देखनेमें आता है कि क्रोध मानादिक जितने हैं वे ज्ञानमें मोह जनित विकार हैं, सो ये विकार जब दूर हो जाते हैं तब आत्मा अपने उत्तम क्षमादिक स्वभावको प्राप्त होजाता है, सो वही धर्म है। क्योंकि क्रोध

विकार रहित आत्माका उत्तम क्षमा रूप होना और मान कषाय छोड मार्दव रूप होना, मायाकषाय छोड आर्जव रूप होना, लोभकषाय छोड शौच रूप होना, असत्यको छोडकर सत्य रूप होना, विषयोंमें प्रवृत्तिरूप असंयम भाव छोड संयमके नियम रूप होना, देहादिक परवस्तुमें ममत्व छोड आकिंचन रूप होना, विषयोंमें प्रवृत्ति रूप रागभाव छोड ब्रह्म रूप आत्मामें चर्या करना, इन समस्त दशलक्षण रूप धर्म आत्माका स्वभाव है। आत्माकी दशलक्षण रूप परिणति होती है इसीका नाम धर्म है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र भी आत्माके ही स्वभाव हैं। श्रद्धान ज्ञान आचरण भी आत्माकी ही परिणति रूप हैं। इसलिए दशलक्षण रूप, रत्नत्रय रूप जीवदया रूप जिन भक्ति रूप आत्माके हुए बिना अन्य किसी प्रकार धर्म नहीं है। धर्म ही संसारके दुःखके अभाव करनेको कारण है। सो ऐसी परोपकारी धर्मको भगवान अर्हंत देवने भले प्रकार कहा है।

अमितगति श्रावकाचारमें कहा है—

निरुपमनिरवद्यशर्ममूलं हितमभिपूजितमस्तसर्वदोषम्।
भजति जिनवेदितं स धर्मं भवति जनः सुखभाजनं सदा यः ॥

अर्थ—जिसको किसी दूसरे पदार्थकी उपमा नहीं हो सकती, निर्दोष सुखका कारण, कल्याण करने वाला, सब जीवोंका पूज्य, सब दोषोंका नाश करने वाला ऐसे जिनेन्द्र

द्वारा प्रतिपादित धर्मका जो सेवन करता है वह हमेशाको नित्य सुखका स्थान होजाता है। धर्म ही अत्यन्त दुख देने वाले संसारका नाश करने वाला है। धर्म ही पीडा रहित मोक्षस्थानका देनेवाला है। धर्म ही सम्पूर्ण इष्ट पदार्थोंका दाता है ऐसा विचार कर पुरुषको मन वचन कायसे धर्मका सेवन करना चाहिये। संसारमें सब पदार्थ सुलभ हो सकते हैं लेकिन सच्चे धर्मका मिलना बहुतही कठिन है। उत्तम देश कुल जाति तथा स्वस्थ शरीर, धनादि सुख सामग्रीके मिलने पर धर्मका सेवन किसी पुण्यात्मासे ही होसकता है। यद्यपि ये तमाम चीजें पुण्य कर्मके उदयसे ही प्राप्त होती हैं और पुण्यकर्म धर्म सेवन करनेसे ही उपार्जित किया जाता है पर कर्मका उदय बडाही विचित्र होता है। विभवके होते हुए मदका अभाव होना, गुणसे प्रेम होना, धर्मात्माओंसे मोह होना, जिनार्चनादि करनेका, पात्रदान करनेका, स्वाध्याय कर तत्त्वज्ञान करनेका भाव होना बडा मुश्किल है। देखा तो यही जाता है कि कर्मके परवश हुए संसारी जीवोंको विभव, अधिकार, शरीरबल और इज्जतका मद होजाता है, जिससे तमाम शुभ कर्तव्योंसे विमुखता हो जाती है। आचार्य ऐसोंको ही संबोधन करते हुए उपदेश करते हैं कि हे भव्यो– संसारके स्वरूपका विचार करो, इष्टवियोग अनिष्टसंयोग जनित प्रक्रियाका ध्यान करो, कुटुम्बके मेल और

वियोगसे उत्पन्न स्थितिका विचार करो फिर विवेकको जाग्रत कर अपना हित विचारो, अपना हित तो धर्मके सेवन करने में ही है। विचार कर देखो शास्त्रोंमें ऐसे २ तीर्थंकरादिक पुण्यात्माओंका ही वर्णन है जो असंख्यात द्रव्यके अधिपति थे। कितने ही तो तीन लोकसे पूज्य तीर्थंकर पद तकके धारी हुए हैं उन्होंने सारे वैभवको तृणवत त्यागकर रत्नत्रय धर्म का आराधन किया है और उससे हमेशाके लिये अनंत सुख का स्थान प्राप्त किया है। इसीको दौलतरामजीने सराहा है उन्होंने कहा है कि-

धन धन्य हैं जे जीव नर भव पाय यह कारज किया।
तिनही अनादि भ्रमण पंच प्रकार तज वर सुख लिया॥
मुख्योपचार द्विभेद यों बढ भाग रत्नत्रय धरैं
अरु धरेंगे ते शिव लहैं तिन सुजस जल जगमल हरैं
इम जानि आलस हानि साहस ठानि यह सिख आदरौ
जबलौं न रोग जरा गहै तबलौं झटिति निज हित करौ।
यह राग आग दहै सदा तातैं समामृत सेइये।
चिर भजे विषय कषाय अब तो त्याग निज पद वेइये॥

इस संसारमें पहिले तो जीव धर्मको जानताही नहीं है कभी बडा कष्ट उठाकर धर्मकी जानकारी करभी लेता है, तो मोह रूप पिशाचसे भ्रमाया हुवा उस धर्मका आचरण नहीं कर सकता है। अगर कभी कोई काललब्धिसे या गुरु

के संयोगसे, ज्ञानावरणीके क्षयोपशमसे जानभी जाता है तो उसका उसी रूपसे आचरण नहीं कर सकता है। इस प्राणी को जिस प्रकारसे इस संसारमें इन्द्रियोंके विषयोंमें प्रीति है उस प्रकारकी यदि जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित इस दश लक्षण रूप धर्ममें प्रीति होजावे तो थोडे ही समयमें संसारका त्याग कर मोक्ष प्राप्त कर लेवे। लोग ऐसा मानते हैं कि धनाढ्में अर्थात् धन होगा तो उससे सर्व होजायगा सो ऐसा मानना भी अज्ञानताका सूचक है। क्योंकि जैसे बिना बीजके धान्य नहीं होता है उसी तरह बिना धर्म सेवन किये लक्ष्मी कहांसे होजायगी? इसलिए धनकी आद्यजननी तो धर्म प्राप्ति है। धर्म किन २ प्रवृत्तियोंसे हो सकता है? इसके उत्तरमें धर्मात्माकी प्रवृत्ति इस प्रकार जाननी चाहिए कि धर्मात्माको अपने वैरियोंमें भी क्षमा भाव धारण करना चाहिए। वह तो परके द्रव्यका त्यागी होता है। पराई स्त्री को मां बहिन बेटीके समान जानता है। धर्मात्माकी कीर्ति सर्वत्र फैलती है। उसका सभी लोग विश्वास करते हैं, वह तो सबसे प्रिय वचन ही बोलता है जिससे किसीको दुःख उत्पन्न न हो। सम्यक्त्व सहित उत्तम धर्मसे युक्त तिर्यंच भी देव पदवी प्राप्त कर लेता है, चांडाल भी धर्म सहित होनेसे देवोंका इन्द्र होजाता है, धर्मके प्रभावसे अग्नि भी हिम होजाती है, सर्प उत्तम रत्नोंकी माला होजाता है।

देव दास होजाता है, तीक्ष्ण खड्ग फूलमाला होजाता है, वैरी मित्र होजाता है, जहर अमृत होजाता है। जो जीव धर्म रहित होते हैं वे मिथ्यात्वके वश होकर देव भी हों तो वनस्पतिमें आकर जन्म ले लेते हैं। चक्रवर्ती भी यदि धर्म रहित हो तो मरकर नरकोंके दुखोंका पात्र होजाता है। धर्म रहित जीव असह्य पराक्रम क्यों न करे पर उसको इष्ट की प्राप्ति नहीं हो सकती है। उल्टा उसका नुकसान ही होता है। इसलिए आचार्य भव्य जीवोंको सम्बोधन करते हुए उपदेश करते हैं कि हे प्राणियों! धर्म अधर्मका फल प्रत्यक्ष देखकर धर्मका आदर करो और पापका परिहार करो इस प्रकारका चिंतवन करनेवाले पुरुषका धर्मानुरागसे धर्ममें प्रयत्न होता है। इन अनित्यत्वादि बारह भावनाओं के चिन्तवन करनेका फल वैराग्यकी दृढता और नवीन कर्मों का रोध होता है।

ध्यान भी कर्मोंके संवर और निर्जरा होनेमें कारण है, इसलिए जो भी ध्यानका सामान्य रूपसे कथन पहिले कर दिया गया है अब विशेष रूपसे धर्मध्यान और शुक्ल-ध्यानका उनके परिकरके साथ वर्णन किया जाता है—

ऊपर कहा गया है कि यह जीव अनादिकालसे कर्म की परवशतामें चला आरहा है। जिससे पर पदार्थोंकी संगतिमें रहकर उनके स्वरूपके विचार करनेमें तत्पर रहा,

अपने स्वरूपका तो कभी ध्यान नहीं किया, सो अपने स्वरूप का विचार करना धर्मध्यान है।

प्रश्न—आत्माका आत्माकी तरफ ऋजु होना धर्मध्यान कैसे कहा?

उत्तर—आत्माका आत्माकी ओर ऋजु होनेको धर्मध्यान इस प्रकार माना है कि जब आत्मा अपने स्वरूपका विचार करता है तब वह जीवात्मा अपने आपको हरएक तरहकी आपत्तियोंमें फँसा हुआ देखता है और वह विचार करता है कि मेरा आत्मा तो इन आपत्तियोंमें फँसा हुवा है।

प्रश्न—वह आपत्तियां कौन २ हैं?

उत्तर—वह आपत्तियां जब यह जीव धर्मध्यानका अनुभव करता है तब उसके उपयोगमें आती हैं कि मैं कर्मके अधिकारसे होनेवाली इन दो विपत्तियोंमें फँसा हुवा हूं। जिन आपत्तियोंमें फँसा रहता है उनका हम पहिले आर्त रौद्र ध्यानके वर्णनके प्रकरणमें वर्णन कर चुके हैं जिसको कि आपने पहिले पढाही होगा। उन आपत्तियोंसे यह जीव तब ही बच सकता है जब अपनेमें अपने आपके चिंतवन करका सहारा लेगा।

प्रश्न—कृपा कर धर्मध्यान वा उसके भेदोंका शास्त्राधारसे खुलासा वर्णन कर दीजिए जिससे सचेत होकर यह जीव उन आपत्तियोंसे बचनेकी कोशिस कर सके?

उत्तर—धर्मध्यान और उसके भेद सिद्धान्तमें जिस तरहसे वर्णन किये गये हैं उनका वर्णन निम्न प्रकार है—

विण्णिवि असुहे ज्झाणे पावणिहाणे य दुक्खसंताणे।
णच्चा दूरे वज्जह धम्मे पुण आयरं कुणह॥
द्वे अपि अशुभे ध्याने पापनिधाने च दुःखसंताने।
ज्ञात्वा दूरं वर्जय धर्मे पुनराचारं कुरु॥

अर्थ—हे भव्यात्माओं! आर्त रौद्र ये दो ध्यान तो अशुभ ध्यान हैं। इनको पापके खजाने और दुःखकी सन्तान जान न करे। इनका तो दूर ही से त्याग करो। धर्मध्यानको सुखदाता समझ कर उसका आचरण करो।

प्रश्न—सबसे पहिले ये बतलाइये कि ध्यान कहते किसे हैं? यह क्यों करना चाहिए? और उस ध्यान करने का अधिकारी कौन है तथा ध्यानका फल क्या है? इतना बतलानेके बाद धर्मध्यान और शुक्लध्यानके भेदोंको समझाइये?

उत्तर—आद्यत्रिसंहतेः साधोरान्तर्मौहूर्तिकं परम्।
वस्तुन्येकत्र चित्तस्य स्थैर्यं ध्यानमुदीर्यते॥

अर्थ—आदिके तीन संहनन धारी साधुके चित्तकी जो उत्कृष्ट रूपसे एक अन्तर्मुहूर्त तक एक वस्तुमें स्थिरता होना उसीको ध्यान कहते हैं। वज्रऋषभनाराचसंहनन, वज्रनाराच और नाराच इन संहनन धारी जीवोंका उपयोग

एक वस्तु विषयक ध्यानमें उत्कृष्ट रूपसे अन्तर्मुहूर्त ही लग सकता है, बाकीके जीवोंका कोईका एक क्षण कोईका दो क्षण तीन क्षण चार पांच छह आदि तक लग सकता है। इससे ज्यादा नहीं।

समस्तकर्मविश्लेषो ध्यानेनैव विधीयते।
नाहस्करं विनाऽन्येन हन्यते शार्वरं तमः॥

अर्थ—जीवोंकी सर्व कर्मोंसे मुक्ति दूसरे किसी प्रयोग से नहीं होती है, केवल ध्यानसे ही हो सकती है। जैसे रात्रिका गहन अंधकार एक सूर्योदयके सिवाय किसीसे नष्ट नहीं हो सकता है। इसलिये—

यत्नः कार्यो बुधैर्ध्याने कर्मभ्यो मोक्षकांक्षिभिः।
रोगेभ्यो दुःखकारिभ्यो व्याधितैरिव भेषजे॥

अर्थ—व्याधिसे युक्त लोक जिस प्रकार दुखकारी रोग से मुक्त होनेके लिये दवाईके सेवन करनेमें प्रयत्न करते हैं। उसी प्रकार कर्मोंसे मोक्षके चाहने वाले भव्योंको ध्यान करनेका प्रयत्न करना चाहिये। ध्यान करने वाले ध्याताको इन चार बातोंका विचार करना चाहिए—

साधकः साधनं साध्यं फलं चेति चतुष्टयम्।
विबोद्धव्यं विधानेन बुद्धैः सिद्धिं विधित्सुभिः॥

अर्थ—शास्त्रके अनुसार ध्यानको सिद्ध करने वाले विद्वानोंको ध्यान सम्बन्धी—साधक, साधन, साध्य और

फल इन चार बातोंका अच्छी तरह विचार करना चाहिए।
वे चार बातें क्या हैं ?-

संसारी साधको भव्यः साधनं ध्यानमुच्यते ।
निर्वाणं कथ्यते साध्यं फलं सौख्यमनश्वरम् ॥

अर्थ-संसारी भव्य जीव तो साधक हैं, शुद्ध आत्मस्वरूपका चिन्तवन करना साधन है। माक्षे साध्य है और अविनश्वर सुखकी प्राप्ति होना उसका फल है।

व्यक्त राग सहित पंचपरमेष्ठी तथा दशलक्षण रूप धर्म तथा अपने आत्मस्वरूपमें चितका एकाग्र होना सो धर्मध्यान है। यह ध्यान शुभोपयोगमें होता है सो चौथे गुणस्थानसे सातवें गुणस्थान तक होता है, क्योंकि इस ध्यानमें कषायके मंदस्थान रहते हैं। क्यों कहा गया है कि-

अनपेतस्य धर्म्यस्य धर्मतो दशभेदतः ।
चतुर्थः पंचमः षष्ठः सप्तमश्च प्रवर्तकः ॥

अर्थ-दशलक्षण धर्मसे भ्रष्ट न होनेवाले जीवोंके धर्मध्यान चौथे पंचमें छठवें और सातवें गुणस्थानमें होता है। यद्यपि चतुर्थ गुणस्थानसे आगे परणामोंकी निर्मलता और आत्मध्यानकी आसक्ति अधिक अधिक होती है तथापि धर्मध्यान तो सातवें गुणस्थान पर्यंत ही समझना चाहिये।

धर्मध्यानके भेद-

आज्ञापायविपाकानां चिन्तनं लोकसंस्थितेः ।

चतुर्धाभिहितं धर्म्यं निमित्तं नाकशर्मणः ॥

अर्थ—धर्मध्यानके चार भेद हैं १) आज्ञाविचय २) अपायविचय ३) विपाकविचय ४) संस्थानविचय ये ध्यान स्वर्गसुखका साधन स्वरूप है। धर्म किसे कहते हैं इस विषय का प्रकाश ऊपर धर्मभावनामें काफी डाला गया है फिरभी प्रकरणवश संक्षेपमें कहा जाता है-अभेद विवक्षासे वस्तुका जो स्वभाव है वही धर्म है। जैसे जीवका चैतन्य स्वभाव है सो यही जीवका धर्म है। भेद विवक्षासे दशलक्षण उत्तम क्षमादिक तथा रत्नत्रयादिक धर्म हैं। निश्चयसे अपने चैतन्यकी रक्षा करना-विभाव परिणति रूप नहीं परिणमना और व्यवहारसे दूसरे जीवोंको विभाव रूप-दुःख क्लेश रूप न करना जीवका प्राणांत न करनाही धर्म है। ध्यानका स्वरूप एक ज्ञेयमें ज्ञानका एकाग्र होना है। जो पुरुष जिस समय धर्ममें एकाग्र चित्त करता है उस समय इन्द्रियोंके विषयोंका अनुभवन न करे तो उस पुरुषके धर्मध्यान होता है। इसका मूल कारण संसार देह भोगसे विरक्त होना है। क्योंकि बिना वैराग्यसे धर्ममें चित्त नहीं थँमता है। जो संपूर्ण अन्य विकल्पोंके रहित अपने स्वरूपमें मनको थामनेसे आनंद रूप चिंतवन रहे सो उत्तम धर्मध्यान । उसी ध्यानके जो ऊपर चार भेद कहे गये हैं उनका भाव ऐसा समझना चाहिये—

जीवादिक छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, सप्त तत्त्व नव

पदार्थोंका विशेष रूप विशिष्ट गुरुके अभावसे तथा अपनी मंदबुद्धिके वशसे प्रमाण नय निक्षेपादिसे साधना, ऐसा नहीं जाना जाय तब ऐसा श्रद्धान करना कि सर्वज्ञ वीतरागदेवने जो कुछ कहा है वह हमको प्रमाणभूत है। ऐसी आज्ञा मानकर उसीके अनुसार पदार्थोंमें उपयोगका थामना सो आज्ञाविचय नामक पहिला धर्मध्यान है।

अपाय नाम नाशका है। जिनका ज्ञाननेत्र मिथ्याद-र्शनसे ढक गया है उनके आचार विनय उद्यमादिक सभी संसारको बढाने वाले हैं। अविद्याकी अधिकतासे संसार परिभ्रमण बढताही है। तथा जिस प्रकार जन्मके अंधे बल-वान हैं तो भी सन्मार्गसे छूटे हुए होनेसे कल्याण मार्गके उपदेश दाता बिना, नीच ऊंच पर्वत विषम पाषाण कठोर-स्थाणु कंटकोंके समूहसे व्याप्त पृथ्वीमें पडे हुए उद्यम करने परभी सन्मार्गमें प्राप्त होनेको समर्थ नहीं होते हैं उसी प्रकार सर्वज्ञ प्रणीत मार्गसे विमुख पुरुष मोक्षकी इच्छा करे तो भी उपदेश दाता बिना, सत्य मार्गको नहीं जाननेसे दूरसे ही नष्ट होते हैं। इस प्रकारसे सन्मार्गके अभावका चिंतवन करना सो अपाय विचय नामका दूसरा धर्मध्यान है। ज्ञानार्णवमें इसका लक्षण इस प्रकार बतलाया है कि—

अपायविचयं ध्यानं तद्वदन्ति मनीषिणः।
अपायः कर्मणां यत्र सोऽपायः स्मर्यते बुधैः॥

भाव यही है कि जिस ध्यानमें ऐसा चिन्तवन किया जाता कि ये विचारे संसारी जीव कर्मके वशमें होकर कैसे दुख भोग रहे हैं। हे भगवान इनके कर्मोंका नाश कैसे हो इसीको अपायविचय नामका धर्मध्यान बुद्धिमानोंने कहा है। अथवा मिथ्यादृष्टियोंके द्वारा कहे हुए उन्मार्गसे ये प्राणी कैसे टलें तथा अनायतन सेवाका अभाव कैसे हो तथा पापके कारण वचन और पापकी भावनाका अभाव प्राणियों के कैसे हो इत्यादि चिन्तवन करना सो अपायविचय नाम का धर्मध्यान जानना चाहिए।

विपाकविचय धर्मध्यान—

स विपाक इति ज्ञेयो यः स्वकर्मफलोदयः।
प्रतिक्षणं समुद्भूताश्चित्ररूपः शरीरिणाम् ॥

अर्थ—प्राणियोंके पूर्वकृत (अनेक जन्ममें उपार्जन किये हुए) कर्मके फलका उदय होता है वह विपाक नामसे कहा जाता है। वह कर्मोदय प्रतिक्षण उदयमें आता है और ज्ञानावरणादि अनेक रूप होकर जीवोंको अपना रस देता है। वह उदय चाहे पाप रूप हो या पुण्य रूप हो परन्तु एक क्षण भी साताका सहकारी नहीं होता है। क्योंकि संसारमें कैसा ही बलशाली पुरुष क्यों न हो परन्तु उसको कर्मके उदयमें एक क्षण भी शांति नहीं मिलती है। इसीसे तो तीर्थंकर सरीखे पुण्यात्माओंने भी संसारका त्याग कर

वैराग्यका अवलम्बन लिया। इससे हे भव्य प्राणियो! तुम भी इन कर्मोकी पराधीनतासे निकलनेका प्रयत्न कर इनके नाश करनेका उपाय सोचो। क्योंकि ये मनुष्य भव बडी दुर्लभतासे प्राप्त हुवा है। यही सम्यक्त्वकौमुदी नामके ग्रन्थ में बतलाया है—

अर्थाः पादरजोपमा गिरिनदीवेगोपमं यौवनम्।
आयुष्यं जललोलबिंदुचपलं फेनोपमं जीवितम्॥
धर्मं यो न करोति निश्चलमतिः स्वर्गार्गलोद्धाटनम्।
पश्चात्तापहतो जरापरिगतः शोकाग्निना दह्यते॥

अर्थ—मनुष्य को धन संपत्ति तो पैरोंकी धूलीके समान है। यौवन पर्वतसे गिरने वाली नदीके वेगके समान शीघ्र जाने वाला है। आयु जलकी चंचल विंदुके समान है—जैसे बरसने वाली बूंद देखते देखते नाश हो जाती है उसी तरह आयु भी देखते देखते क्षय हो जाती है। जीवन फैनके समान क्षणविध्वंसी है। स्वर्गकी अर्गलाका उद्धाटन करने वाले धर्मका जो अज्ञानी सेवन नहीं करता है वह पश्चात्ताप युक्त होता हुवा बुढापेमें शोक रूप अग्निसे हमेशा जलता रहता है। क्योंकि बुढापे में शक्तिक्षीण हो जानेसे और तो कुछ कर सकता नहीं है, केवल पछता २ कर शोक में मग्न रहता है। इसलिये जब तक जवानी रहती है तभी तक धर्म साधनकर कर्मोको नाशकर अपने आत्माको पर-

मात्मा बनानेकी कोशिश करनेमें लग जाओ। ऐसा करनेमें ही मनुष्यता सफल हो सकती है। कहा भी है-

इत्थं कर्मकटुप्रपाककलिताः संसारघोरार्णवे।
जीवा दुर्गतिदुःखवाडवशिखासंतानसंतापिताः।
मृत्युत्पत्तिमहोर्मिजालनिचिता मिथ्यात्ववातेरिताः
क्लिश्यन्ते तदिदं स्मरन्तु नियतं धन्याः स्वसिद्धयर्थिनः

अर्थ—इस प्रकार इस भयानक संसार समुद्रमें जीव ज्ञानावरणादिक कर्मोंके तीव्रोदयसे संयुक्त हैं सो दुर्गतिके दुःखरूपी बडवानलकी ज्वालाके सन्तानसे सन्तापित हैं! तथा जन्म मरण रूपी बडी २ लहरोंके समूहसे परिपूर्ण भरे हुए हैं। तथा मिथ्यात्व रूप पवनके प्रेरे हुए क्लेश भोगते हैं। जो धन्य पुरुष हैं वे मुक्तिकी सिद्धिके लिए इस विपाक विचय नामक धर्मध्यानका स्मरण करते हैं। भाव ये है कि कर्मके फलके अनुभवका गुणस्थानोंमें वा मार्गणास्थानोंमें तथा उदीर्णाका चिंतवन करना सो विपाक विचय धर्म ध्यान है।

संस्थान विचय नामा धर्मध्यान—

अनंतानंतमाकाशं सर्वतः सुप्रतिष्ठितम्।
तन्मध्येऽयं स्थितो लोकः श्रीमत्सर्वज्ञवर्णितः॥

अर्थ—चारों ओर (सब तरफ) अनंतानंत प्रदेशरूप आकाश है वह स्वप्रतिष्ठ है अर्थात् आप ही अपने आधार

है। क्योंकि उससे बडा अन्य कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। जिसके आधार से यह आकाश द्रव्य टिके। उस आकाश के बीचोंबीच (मध्यभागमें) यह लोक स्थित है ऐसा श्री सर्वज्ञदेवन वर्णन किया है। इसलिए प्रमाणभूत है। क्योंकि जिसका कथन कल्पना करके नहीं किया जाता है वह ही प्रमाणभूत होता है। सर्वज्ञने अपनी आत्मासे यथार्थ निश्चायक ज्ञानके विरोधी ज्ञानावरणी कर्मका नाश कर निर्मल ज्ञान प्राप्त किया है जिस ज्ञानमें निर्मल दर्पणकी तरह अलोक सहित तीनो लोकोंके सचराचर पदार्थ यथार्थ झलकते हैं। उसी ज्ञानसे सर्वज्ञ देवने लोकका यथार्थ वर्णन अपनी चमत्कारिणी दिव्यध्वनि द्वारा किया है वह श्लोक–

स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतैः पदार्थैश्चेतनेतरैः।
संपूर्णोऽनादिसंसिद्धः कर्तृव्यापारवर्जितः॥

अर्थ–यह लोक उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन तीन प्रकार की दशाओंसे युक्त चेतन अचेतन पदार्थोंसे ठसाठस भरा हुआ तथा अनादि संसिद्ध है। इसका कोई कर्ता धर्ता नहीं है। जैसे दूसरे २ लोग इस लोकका कर्ता ईश्वरको मानते हैं उस तरहसे जिनदेवने इस लोकका कर्ता किसीको नहीं बतलाया है। ईश्वर किसी चीजका भी कर्ता है या नहीं इस विषयक ज्ञान आप्त परीक्षादि दार्शनिक ग्रंथोंसे जानना चाहिये। इस छोटेसे ग्रन्थका कलेवर बढता है इसीसे इस

विषयके विशेष विवेचन नहीं लिखा जाता है।

यह लोक ऊर्ध्व मध्य और अधोभागके भेदसे तीन प्रकारका है। उनकी रचनाका वर्णन संक्षेपमें निम्न प्रकार है–अधोभाग-सात राजू प्रमाण है उसमें नरकोंकी सात भूमियां हैं जिनमें नारकियोंके उत्पन्न होनेके चौरासी लाख बिले हैं। उन बिलोंके आकार उष्ट्रमुख या ढोलकी पोलारी के समान हैं। उसमेंसे नारकी जन्म लेकर कमसे कम दश-हजार वर्ष और ज्यादासे ज्यादा तेतीस सागर पर्यंत पापके परिणाम स्वरूप घोर दुःख भोगते हैं। वहां नाना प्रकारके दुख होते हैं। नारकियोंके शरीरका आकार बहुतही विकृत होता है। उनके शरीर महा दुर्गंधित होते हैं वहांके क्षेत्रकी वेदना केवल उसको छूने मात्रकी इतनी तीव्र होती है कि एक साथ यदि महाविषेले हजार बिच्छु काट खावें तो उसके वेदनाकी भी उपमा नहीं बन सकती है। नरकोंमें ऐसे जीवोंका ही गमन होता है जो इस लोकमें अज्ञानता वश हिंसादिक महाघोर पापोंको करते हैं–परस्त्री सेवन करना, वेश्या गमन करना, चोरी करना, शिकार खेलना, मांस खाना, अभक्ष्य भक्षण करना, छलकपट करना आदि कार्यही जीवको नरकोंमें लेजानेमें कारण होते हैं! हे भव्यो इन अनिष्टकारक पापोंसे बचनेका सतत प्रयत्न करते रहो। याद रक्खो पाप करनेमें आनंदका अनुभव होता है या

उनके करनेमें उत्साह पैदा होता है, लेकिन उनका विपाक बडा ही भयंकर होता है।

मध्यलोक-एक लाख योजन ऊंचा है। नीचे जमीन पर एक राजू गोलाकार चिपटा (थालीके आकार) है। मध्यलोकमें असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। यहां पर मनुष्य, तिर्यंच और ज्योतिषिदेवोंका निवास स्थान है। तिर्यंच योनि तो प्रत्यक्ष दुखदाई दीखती है। तिर्यंचोंको दुख महाभयंकर होते है। छेदन, भेदन, वध, बंधन, ताड़न काटन, मारण, शर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, भारवहन आदिके दुःख तो प्रत्यक्ष दीखते हैं। अतरंगके असातावेदनीय जन्य कष्टोंकी गणना तो केवलज्ञान गम्य हैं। मनुष्योंके दुःखोंका भी क्या कहना है, पाप कर्मके उदयसे अंधे लूले, लंगडे, कोडी, रोगी, वियोगी संयोगी, दरिद्री, इंन्द्रियविकलता आदिके प्रत्यक्ष दुख दीखनेमें आते ही हैं। इनके अतिरिक्त असातावेदनीयके उदय जन्य और २ भी कितने ही प्रकारके दुःख भोगने पडते हैं। कभी पुण्यकर्मके उदयसे उच्चकुल उच्चदर्जे भी मिल जाते हैं तो वहां भी अपेक्षा कृत सुख मिलता है लेकिन सच्चा सुख तो वहां भी नहीं मिलता, हां इतना जरूर है कि जिसका भवितव्य अच्छा होने वाला होता है, वह यदि धर्ममें रुचि करता है, और संसारका त्याग कर आत्मसाधन करता है तो वह अपना कल्याण

भी कर लेता है।

कर्तव्य तो यही होना चाहिये कि आत्मसाधन कर हमेशाको सुख साधन कर लो। और भी कितने ही प्रकार के दुख मनुष्य गतिमें हैं जैसे--विचार करो कि गर्भ में हाथ पांव आदि आंगोपांग सकुचे ही रहते हैं जिसका दुख इस जीवको बहुत रहता है। गर्भसे निकले बाद कभी २ बाल्य अवस्थामें ही माता पिताका मरणा होजाता है तो भूख प्याससे, पराई अच्छिष्टतासे अपना भरण पोषण करता है। कभी मांग २ कर अपना पेट भरता है, दूसरोंके द्वारा पालन पोषण क्रियामें पराधीनताके महा दुख उठाता है, किसी २ के तीनों पन दुख रूप ही बीतते हैं, फिर भी ये जीव दान पूजा व्रत तप ध्यान स्वाध्यायादि करके पुण्य पैदा नहीं करता है यह बडा अज्ञान है। यथार्थ देव शास्त्र गुरुका श्रद्धावान, मुनि श्रावकोंके व्रतका आचरण करने वाला, मन्द कषायरूप परिणाम, अपने द्वारा किए हुए दोषोंको स्मरण कर उसका पश्चात्ताप करनेवाला, अपने दोषोंको गुरुओंके समीप कहने वाला ऐसे २ आचरण करनेवाला जीव पुण्य प्राप्त करता है। सो ऐसे जीव विरले ही होते हैं।

कोई ऐसा जानता हो कि जिन्होंने महान पुण्यके कार्य कर बडा पुण्य उत्पन्न किया है उनको पुण्यकर्मके उदयसे भारी सुख मिलता है, सो ऐसा समझना भी भ्रम

ही है, संसारमें सच्चा सुख तो किसीको भी नहीं मिलता है क्योंकि औरकी तो बात क्या भरत चक्रवर्ती सरीखे पुण्यात्माओंको भी अपमानजन्य दुख भोगने पडे हैं, बडे २ पुण्यात्माओंको भी अभीष्ट पदार्थकी प्राप्ति नहीं हो पाती है उसमें कमी रह ही जाती है। मनोरथ तो किसीके भी पूर्ण नहीं हो पाते। इसलिये सब प्रकार सुखी कैसे हो सकते हैं? और भी देखिये- किसीके तो स्त्री नहीं है, यदि स्त्री है तो पुत्रकी प्राप्ति नहीं है। यदि पुत्रकी प्राप्ति होजाती है तो शरीर नीरोग नहीं रहता है, यदि शरीर नीरोग होजावे तो धन धान्यादिकी प्राप्ति नहीं होती है, यदि धन धान्यादि की प्राप्ति होजावे तो शीघ्र मरण होजाता है। कोईकी स्त्री दुराचारिणी होजाती है, कोईका पुत्र व्यसनरत देखा जाता है, कोईका भाई शत्रुके समान है तो किसीकी पुत्री दुराचारिणी निकलती है, किसीको सुयोग्य पुत्र, स्त्री, भाईका वियोग होजाता है। कर्मका उदय बडा बलवान है-पुण्य कर्मके उदयसे शत्रु भी मित्र होजाता है तथा पाप कर्मके उदयसे मित्र शत्रु होजाते हैं। ऐसे २ कर्मके उदयके रस मनुष्यगतिमें भोगने पडते हैं।

कोई ये समझता हो कि देवगतिमें सुख होता होगा सो भी बात नहीं है। देखिये—एक देव दूसरे बडी ऋद्धि धारी देवकी ऋद्धिको देखकर मानसिक दुःखसे दुखित होता

है। महर्द्धिक देवोंको भी इष्ट ऋद्धि देवांगनादिका वियोग होता है और उस सम्बन्धी दुःख होता है। जिनका सुख विषयोंके आधीन है उनको तृप्ति कैसे हो सकती है ! उसकी तृष्णा तो बढती ही जाती है। कोई ऐसा जानता होगा कि शारीरिक दुःखसे मानसिक दुःख तुच्छ होता होगा, सो ऐसा नहीं है–शारीरिक दुःखसे मानसिक दुःख तेज होता है क्योंकि जहां मानसिक दुःख होता है वहां तमाम सुख की सामग्री भी दुख रूप ही होजाती है। क्योंकि अन्य निमित्तसे जो सुख माना जाता है वह तो भ्रम ही है कारण कि जो वस्तु आज सुखकी कारण होती है कालान्तरमें वही दुख रूप परिणम जाती है। इसलिए निश्चयसे विचारा जाय तो संसारमें कोई वस्तु सुखदाई नहीं है सब दुखके ही कारण हैं। यह जीव तो पर्याय बुद्धि है जहां जन्म लेता है वहीं सुख मान बैठता है। हे भव्यो मोहके माहात्म्यका विचार तो करो कि पाप कर्मके उदयसे जब कोई राजा मर कर मलका कीडा हो जाता है तो वह वहां ही मग्न होजाता है। इस प्रकार लोकके तीनों भागोंमें इस जीवको दुख भोगने पडते हैं। इसी लोकमें जीवको पंच परावर्तन रूप परिभ्रमण करना पडता है। पंच परावर्तनोंका स्वरूप सर्वार्थसिद्धि स्वामी कार्तिकेयादि ग्रन्थोंसे जानना चाहिए। इस प्रकार धर्मध्यानके चार पायोंका वर्णन जानना चाहिए और भी

चार प्रकारका धर्मध्यान बतलाया है (१) पदस्थ (२) पिण्डस्थ (३) रूपस्थ (४) रूपातीत । उनका लक्षण इस प्रकारका बतलाया है—

पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं पिंडस्थं स्वात्मचिन्तनम् ।
रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरंजनम् ॥

अर्थ—मन्त्र वाक्योंमें जो स्थित है वह पदस्थ ध्यान है। निज आत्माका जो चिन्तवन है वह पिंडस्थ ध्यान है, सर्व चिद्रूपका चिन्तवन जिसमें हैं वह रूपस्थ ध्यान है और निरंजनका जो ध्यान है वह रूपातीत ध्यान है। इस प्रकार नाना प्रकारका ध्यान जानना चाहिए। यहां पर प्रकरण उपयोगी जान कर कुछ वर्णन ज्ञानार्णवका लिखा जाता है जो ध्यान करने वालोंके उपयोगकी वस्तु है, इसका उपयोग करना चाहिए—

पिण्डस्थ ध्यानका स्वरूप—

पिंडस्थे पंच विज्ञेया धारणा वीरवर्णिताः ।
संयमी या स्वसंमूढो जन्मपाशान्निकृन्तति ॥
पार्थिवी स्यात्तथाग्नेयी श्वसना वाथ वारुणी ।
तत्त्वरूपवती चेति विज्ञेयास्ता यथाक्रमम् ॥

अर्थ-पिंडस्थ ध्यानमें श्री वर्द्धमान स्वामीसे कहीं हुई जो पांच धारणएं हैं उनसे संयमी मुनि ज्ञानी होकर संसार रूपी पाशको काटता है। वे पांच धारणाएं निम्न लिखित

हैं—(१) पार्थिवी (२) आग्नेयी (३) श्वसना (४) वारुणी और पांचवीं (५) तत्त्वरूपवती।

पार्थिवी धारणाका स्वरूप—

तिर्यग्लोकसमं योगी स्मरति क्षीरसागरम्।
निःशब्दं शान्तकल्लोलं हारनीहारसन्निभम्॥

अर्थ—सबसे पहिले योगी जो साधक होते हैं वे मध्य लोकमें स्वयम्भूरमण समुद्र पर्यंत जो तिर्यग्लोक है उसके समान निःशब्द कल्लोल रहित वर्फके समान सफेद क्षीर समुद्रकी अपने चित्तमें कल्पना करके उसका ध्यान करें। फिर उस क्षीरसमुद्र पर्यंत समुद्रके बीचोंबीच एक लाख योजन वाले समेरु पर्वतकी कल्पना करे, फिर उसकी चोटीके बीचों बीच तपाये हुए सुवर्णके समान सहस्र दल वाले कमलको अपने ध्यानमें बनावें।

इस कमलकी भी, जम्बूद्वीपके समान एक लाख योजन के व्यासकी कल्पना करे। फिर उस कमलके मध्य भागमें जिसकी प्रभासे दशों दिशाएं पीली होगई हों ऐसी पीत रंग की कर्णिकाकी कल्पना करे। उस कर्णिकामें शरद ऋतुके चन्द्रमाके समान सफद वर्णका एक ऊंचा सिंहासन कल्पित करे, उस सिंहासन पर सुख स्वरूप शान्त स्वरूप सब प्रकार के कर्म मलके क्षय करनेमें समर्थ अर्थात् आत्माके साथ जितने प्रकारके कर्म सम्बन्ध करते हैं उन सबके नाश करने

में समर्थ अपने आत्माकी कल्पना करना इस प्रकारके चिंत-वनको पार्थिवी धारणा कहते हैं—

अब दूसरी आग्नेयी धारणाका स्वरूप कहते हैं—

ततोऽसौ निश्चलाभ्यासात्कमलं नाभिमण्डले ।
स्मरत्यतिमनोहारि षोडशोन्नतयंत्रकम् ॥

अर्थ—तत्पश्चात् योगी (ध्यानी) निश्चल अभ्याससे अपने नाभिमण्डलमें सोलह ऊंचे २ (उठे हुए) कमल पत्रों का ध्यान करे । उन उठे हुए सोलह पत्रों पर महा मन्त्रके सोलह अक्षरोंका अर्थात्-अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः का ध्यान करे । रही बीचोंबीचकी कर्णिका, सो उसमें "र्हं" ऐसी कल्पना करके उसका ध्यान करे और उसमें ऐसा ख्याल करे कि कर्णिका के अक्षरमें जो रेफ है उसमेंसे मन्द मन्द निकलती हुई धूम की शिखा है । उस कर्णिकाके ऊपरी भागमें एक अष्ट पत्र वाले दूसरे कमलका चिन्तवन करे । उस कमलके बीचकी कर्णिकामें सामान्य रूपसे कर्म स्थापन करे । उसके आठों पत्रों पर आठ ही कर्म स्थापित करे । अर्थात् १ ज्ञानावरण २ दर्शनावरण ३ वेदनीय ४ मोहनीय ५ आयु ६ नाम ७ गोत्र और ८ अन्तराय । इनकी स्थापना करे । पश्चात् सोलह पांखुरी वाले कमलके बीचोंबीच जो कार्णिका है उस के बीचमें जो बीजाक्षर "र्हं" है उसकी रेफमेंसे मन्द मन्द

निकलती हुई धूम (धुएं) की शिखा है उस शिखामेंसे अनु-क्रमसे प्रवाह रूप निकलने वाले स्फुलिंगोंकी पंक्तिकी ज्वाला की लपटें हैं ऐसा चिन्तवन करे। उस निकलती हुई ज्वाला के लपटोंके समूहसे अपने हृदयस्थ वा नाभिस्थ दोनों कमलों सहित शरीर दग्ध होगया ऐसा चिन्तवन करे।

इस प्रकारके चिन्तवन करनेसे कर्म नोकर्म दग्ध हो गये ऐसा निश्चय करना चाहिए। अब जलाने योग्य पदार्थ रहा नहीं, और अग्नि स्वयं शान्तिको प्राप्त होगई ऐसे चिन्त-वनको आग्नेयी धारणा कहते हैं।

मारुती धारणाका स्वरूप—

चलायन्तं सुरानीकं ध्वनन्तं त्रिदशालयम्।
दारयन्तं घनवात क्षोभयन्तं महार्णवम्॥

अर्थ—आकाशके प्रदेशोंमें पूर्ण होकर विचरते हुए महावेग वाले और महा बलवान वायु मण्डलका चिन्तवन करे कि यह पवन देवोंकी सेनाको चलायमान करता है, मेरु पर्वतको कँपाता है, मेघोंके समूहको इधर उधर बखेरता है तथा समुद्रको क्षोभायमान करता है। दशों दिशाओंमें प्रबल वेगसे बहता है तथा पृथ्वी तलमें प्रवेश कर रहा है। तत्पश्चात् ऊपर कही हुई आग्नेय धारणासे जो शरीरादिक भस्म हुए थे उनकी भस्मको इस वायु मण्डलने तत्काल उडा दिया। इसके बाद वायुको स्थिर रूप चिन्तवन करके

शान्त करे। इस प्रकार मारुती धारणा कही।

अब वारुणी धारणाको कहते हैं—

वारुण्यां स हि पुण्यात्मा घनजालचितं नभः।
इन्द्रायुधतडिद्गर्जचमत्काराकुलं स्मरेत्॥

अर्थ—वही पुण्यात्मा इन्द्र धनुष, बिजली, गर्जनादि चमत्कार सहित मेघोंके समूहसे भरे हुए आकाशका चिन्तवन करे तथा उन मेघोंसे उत्पन्न हुई मोती समान उज्ज्वल बडे २ बिन्दुओंसे निरन्तर धारा रूप बरसते आकाशका स्मरण करे।

तत्पश्चात् अर्ध चन्द्राकार मनोहर अमृतमय जलके प्रवाहसे शरीरके जलनेसे उत्पन्न हुए समस्त भस्मका प्रक्षालन करते हुए अर्थात् सब प्रकार जलसे धुले हुए आत्माके प्रदेश हैं ऐसा चिन्तवन करे। इस प्रकार वारुणी धारणाका चिन्तवन करे।

अब तत्स्वरूपवती धारणाका वर्णन करते हैं—

सप्त धातुविनिर्मुक्तं पूर्णचन्द्रामलत्विषम्।
सर्वज्ञकल्पमात्मानं ततः स्मरति शुद्धधीः॥

अर्थ—सात प्रकारकी धातुओंसे रहित, पूर्ण चन्द्रमाके समान निर्मल है प्रभा जिसकी, ऐसे सर्वज्ञके समान अपने आत्माका संयमी ध्यान करे। कैसा है वह आत्मा? अतिशय शोभा सहित सिंहासन पर आरुढ कल्याणकारी महिमा

सहित, देव, दानव, धरणेंद्र, नरेन्द्रोंके, द्वारा पूजित, विलय होगये हैं आठों कर्म जिसके, अतिनिर्मल, पुरुषाकार, अपने ही शरीरमें स्थित है ऐसा आत्मा है ऐसा चिंतवन करे ।

विद्यामंडलमंत्रयंत्रकुहकक्रूराभिचाराः क्रियाः ।
सिंहाशीविषदैत्यदन्तिशरभा यान्त्येव निःसारताम् ।
शाकिन्यो ग्रहराक्षसप्रभृतयो मुञ्चन्त्यसद्वासनाम् ।
एतद्ध्यानघनस्य सन्निधिवशाद्भानोर्यथा कौशिकाः ।

अर्थ जिस प्रकार सूर्यके उदय होने पर उल्लूक (उल्लू) भाग जाते हैं । उसी प्रकार इस पिण्डस्थ ध्यान रूपी घनके समीप होनेसे विद्या, मंडल, मंत्र, यंत्र, इद्रजाल, आश्चर्य, क्रूर अभिचार (मारणादिक) रूप क्रिया, सिंह, आशीविष सर्प, देव, हस्ति, अष्टापद शाकिनी, ग्रह, राक्षस भी खोटी वासना छोड देते हैं ।

इत्यविरतं स योगी पिण्डस्थे जातनिश्चलाभ्यासः ।
शिवसुखमनन्यसाध्यं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ॥

अर्थ–इस प्रकार पिण्डस्थ ध्यानमें जिसका निश्चल अभ्यास हो गया है वह ध्यानी मुनि अन्य प्रकारसे साधनेमें न आवे ऐसे मोक्षके सुखको शीघ्र ही प्राप्त होता है । इस प्रकार पिण्डस्थ ध्यानका वर्णन किया ।

अब पदस्थ ध्यान का वर्णन करते है

पदस्थ ध्यानका वर्णन विस्तार पूर्वक श्री ज्ञानार्णव

नामके ग्रंथमें कहा है सो वहांसे जानना, इस ग्रंथमें विस्तार के भयसे नहीं लिखा जाता है। इसी प्रकार वहींसे दूसरी २ धारणाओंका निरूपण जानना चाहिये।

इस प्रकार ध्यानके अभ्यासी आत्माको अनेक प्रकार की ऋद्धियां प्राप्त हो जाती हैं। इन ऋद्धियोंमें एक आत्माका स्वाभाविक गुण सम्यग्दर्शन भी प्राप्त हो जाता है। उस सम्यग्दर्शनकी महिमा बडे २ आचार्योंने बडे ही महत्वके साथ वर्णन की है।

प्रश्न—हे भगवन् सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं? उसके धारण करनेके लिये क्या २ करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये तथा इसको किसने धारण करके क्या फल पाया है इत्यादिका सविस्तर कथन कीजिये?

उत्तर—हे भव्य तूंने बहुत अच्छा प्रश्न किया है, अब मैं तुझे जैसा बडे २ चार ज्ञान धारी गणधरादि आचार्योंने सम्यग्दर्शनके विषयमें कहा है वही कहता हूं सो ध्यानसे सुन। सम्यग्दर्शनका तो बडाही महत्व है। जिस किसीने इसको धारण किया है वह संसार समुद्रके पार हो गया है। तथैव जो आगे भी धारण करेंगे वेभी संसार समुद्रके पार जावेंगे। अब मैं तुझे पहिले सम्यग्दर्शनका लक्षण जैसा कि परमपूज्य सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्यप्रवर नेमिचन्द्रजीने बतलाया है कि—

जीवादिसद्दहणं सम्मत्तं, रूवमप्पणो तं तु
दुरभिणिवेशविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जह्मि ४१

अर्थ—जीव आदि पदार्थोंका जो श्रद्धान करना है वह सम्यक्त्व है और वह सम्यक्त्व आत्माका स्वरूप है। और इस सम्यक्त्वके होने पर संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय इन तीनों दुरभिनिवेशोंसे रहित होकर ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। भाव ये है कि सम्यक्त्वके पहिले संशय विपर्यय और अनध्यवसाय रूप दोषोंसे दूषित होनेके कारण ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता है और सम्यक्त्वके होतेही ऊपर कहे हुए दोष ज्ञानमेंसे चले जाते हैं। इस कारण वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सो यह सम्यक्त्व [सम्यग्दर्शन] काही माहात्म्य है। अब हम यह बतलाते हैं कि ऊपर जो कहा गया है कि सम्यक्त्वके होने पर ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है उसका विशेष व्याख्यान नीचे लिखे अनुसार है— कि-पांच २ सौ ब्राह्मणोंके अध्यापक गौतम, अग्निभूत और वायुभूत नामक तीन ब्राह्मण चारों वेद, ज्योतिष्क, व्याकरण आदि छहों अंग, मनुस्मृति आदि अठारह स्मृति शास्त्र, महाभारत आदि अठारह पुराण तथा मीमांसा, न्यायशास्त्र इत्यादि समस्त लौकिक शास्त्रोंको जानते थे, तो भी उनका ज्ञान सम्यग्दर्शनके विना मिथ्याज्ञान ही था, परन्तु जब वे प्रसिद्ध कथाके अनुसार श्रीमहावीर स्वामी, तीर्थंकर परम-

देवके समोसरणमें गये तब मानस्तंभके देखने मात्रसे ही आगम भाषासे दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयके क्षयो-पशमसे और अध्यात्मभाषासे निज शुद्ध आत्माके संमुख परिणाम तथा काल आदि लब्धियोंके विशेषसे उनका मिथ्यात्व नष्ट होगया और उसी समय उनका जो मिथ्या-ज्ञान था वही सम्यग्ज्ञान होगया है। और सम्यग्ज्ञान होते ही 'जयति भगवान इत्यादि रूप जो प्रसिद्ध श्लोक हैं उससे भगवानको नमस्कार करके श्री जिनेंद्रकी दीक्षाको धारण कर, केशोंका जो लोच किया उसके पीछेही मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय नामक चार ज्ञान तथा सप्त ऋद्धि-योंके धारक होकर तीनों ही श्रीभगवान महावीर स्वामीके समवसरणमें गणधर देव होगये। उनमेंसे गौतम स्वामीने भव्यजीवोंके उपकारके लिये द्वादशांग रूप श्रुतकी रचना की। फिर वे तीनोंही निश्चय रत्नत्रयकी भावनाके बलसे मोक्षको चले गये। और एकादश अंगोंका पाठी भी जो अभव्यसेन नामका एक मुनि था वह सम्यक्त्वके बिना मिथ्याज्ञानीही रहा। इन दोनों प्रकारकी कथाओंसे निश्चित हुवा कि सम्यक्त्वके माहात्म्यसे मिथ्या रूप ज्ञान तपश्चरण व्रत, उपशम तथा ध्यान आदि हैं वे सम्यक् हो जाते हैं और सम्यक्त्वके बिना विषसे मिले हुए दूधके समान ज्ञान तपश्चरण आदि सब व्यर्थ हैं ऐसा जानना चाहिये।

सम्यग्दर्शन २५ मल अर्थात् दोषोंसे रहित होता है। उन २५ मलोंमें से देवता मूढता, लोकमूढता और समय-मूढताके भेदसे तीन तो मूढताएं होती हैं।

उनमें (क्षुधा) तृषा(प्यास) आदि अठारह दोषोंसे रहित, अनंतज्ञान आदि अनंत गुणोंसहित जो वीतराग सर्वज्ञदेव हैं उनके स्वरूपको नहीं जानता हुआ जीव ख्याति(लोकमें प्रसिद्धि) पूजा, लाभ, रूप, लावण्य, सौभाग्य, पुत्र, स्त्री और राज्य आदिकी संपदा पानेके लिये राग द्वेष युक्त, आर्त रौद्र ध्यानवाले परिणामोंके धारक, क्षेत्रपाल, चंडिका आदिक मिथ्यादृष्टि देवोंकीजो आराधना करनासो देवमूढता है। क्योंकि ये क्षेत्रपाल आदि देव कुछभी फल नहीं देते हैं फल कैसे नहीं देते हैं? यदि ऐसा पूछा जाय तो उत्तर ये है कि रावणने श्रीरामचंद्रजी और लक्ष्मणके विनाशके लिये बहुरूपिणी विद्या सिद्धकी और कौरवोंने पांडवोंके नाश करनेके लिये कात्यायनी विद्या सिद्धकी थी। कंसने श्रीकृष्णके नाशके लिये बहुतसी विद्याओंकी आराधना की थी परन्तु उन विद्याओंने उनका कुछभी अनिष्ट नहीं किया। और श्रीराम आदिने इन विद्याओंकी कोई आराधना नहीं की तो भी निर्मल सम्यग्दर्शनसे उपार्जित पुण्यसे उनके सब विघ्न दूर होगये।

धर्म समझकर पुण्यके लिये गंगा आदि नदी रूप

तीर्थोंमें स्नान करना, समुद्रमें स्नान करना, जलमें प्रवेश करके मरना, मुर्देकी अग्निमें प्रवेश करके मरना, गायकी पूंछ आदिको ग्रहण करके मरना, पृथ्वी, अग्नि, पीपल, वटवृक्ष आदिकी पूजा करना, धन दौलतकी पूजा करना, पत्थर रेता लकड़ी आदिके ढेर कर उनकी पूजा करना सो सब लोकमूढता है।

अज्ञानी लोगोंके चित्तमें चमत्कार उत्पन्न करनेवाले जो ज्योतिष अथवा मंत्रवाद आदिको देखकर श्री वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए धर्मको छोडकर मिथ्यादृष्टि देव मिथ्या-शास्त्र और खोटा तप करनेवाले कुलिंगी इन सबका भय, वांछा और स्नेहसे तथा लोभसे धर्मके लिये आदर सत्कार करना, इनकी पूजा प्रतिष्ठा करना सो समयमूढता है।

सम्यग्दृष्टि इन तीन प्रकारकी मूढताओंका त्यागी होता है। क्योंकि ये सब पुण्यका नाश करनेवाली हैं।

आठ मदोंका परिहार

ज्ञान [कला अथवा हुनरका मद] ऐश्वर्य [हुकूमत का मद] पूजाका मद, तपका मद, कुलका मद, बलका मद, जातिका मद और रूपका मद इन आठ प्रकारके मदका सराग सम्यग्दृष्टिको त्याग करना चाहिये, और मानकषायसे उत्पन्न जो मद मात्सर्य (ईर्षा) आदि समस्त विकल्पोंका समूह है उसके त्याग पूर्वक जो ममकार और अहंकारसे

रहित शुद्ध आत्मामें भावना है वही वीतराग सम्यग्दृष्टियोंके आठ मदोंका त्याग है। कर्मोंसे उत्पन्न जो देह, पुत्र, स्त्री आदि हैं उनमें यह मेरा है इस प्रकारकी बुद्धिको ममकार कहते हैं। उन शरीर आदिमें अपनी आत्मासे भेद न मानकर जो मैं गौर हूं, मोटा शरीरवाला हूं, राजा हूं, इस प्रकार मानना सो अहंकार है।

षडनायतनकथन

मिथ्यादेव मिथ्यादेवोंके सेवक, मिथ्यातप मिथ्यातपस्वी, मिथ्याशास्त्र और मिथ्याशास्त्रोंके धारक पुरुष, इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणके धारक जो छह अनायतन हैं ये सराग सम्यग्दृष्टियोंको त्याग करने योग्य हैं। और जो वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव हैं उनका संपूर्ण दोषोंके स्थानभूत मिथ्यात्व तथा विषय कषाय रूप आयतनोंके त्यागपूर्वक केवलज्ञान आदि अनंत गुणोंके स्थानभूत निज शुद्ध आत्मामें जो निवास करना है सो अनायतनोंकी सेवाका त्याग है।

सम्यक्त्व आदि गुणोंका आयतन (घर-आवास-आधार) करनेका निमित्त जो हो उसको आयतन कहते हैं। सम्यक्त्व आदिक गुणोंसे विपरीत मिथ्यात्वादि दोषोंके धारण करनेके निमित्त जो हों उन्हें अनायतन कहते हैं। अब शंकादि आठ दोषोंका कथन करते हैं—

निःशंक आदि आठ गुणोंका जो पालन करना है वही

शंकादि आठ मलोंका त्याग करना कहलाता है और वह इस प्रकार जानना चाहिए-राग आदि दोष तथा अज्ञान ये दोनों झूठ वचन बोलनेमें कारण हैं, और रागादि दोष तथा अज्ञान ये दोनों ही वीतराग, सर्वज्ञ श्री जिनेन्द्रदेवके नहीं हैं, इसलिए श्री जिनेन्द्रदेवसे निरूपित किये हुए हेयोपादेय तत्वमें, मोक्षमें और मोक्षमार्गमें भव्यजीवोंको सन्देह नहीं करना चाहिए। शंकाके त्यागके विषयमें शास्त्रोंमें अंजन चोरकी कथा प्रसिद्ध है, और विभीषणकी कथा इस प्रकारसे जाननी चाहिए—कि सीताजीके हरणके प्रसंगमें जब रावण का श्री राम लक्ष्मणके साथ युद्ध हुआ, तब विभीषणने विचार किया कि श्री रामचन्द्रजी तो आठवें बलदेव हैं और लक्ष्मणजी आठवें नारायण हैं तथा रावण आठवां प्रतिनारायण है, जो प्रतिनारायण होता है उसका नारायणके हाथ से मरण होता है ऐसा जैनशास्त्रोंमें कहा गया है, सो वह कभी झूठ नहीं हो सकता है। इस प्रकार शंका रहित होकर तीन लोकके कंटक रूप अपने बडे भाई रावणको छोड कर तीस अक्षौहिणी सेना प्रमाण अपनी सेना सहित श्री रामके समीप चला गया। इसी प्रकार देवकी तथा वसुदेवको भी शंका रहित जानना चाहिये। वह इस तरह कि जब कंसने देवकीके बालकको मारनेके लिये प्रार्थना की तब देवकी और वसुदेवने विचार किया कि मेरा पुत्र नवमां नारायण

होगा और उसके हाथसे जरासिंधु नामक नवमें प्रतिनारायणका और कंसका मरण होगा ऐसा जैन शास्त्रोंमें कहा गया है, इस प्रकार निश्चय करके कंसको अपना बालक देना स्वीकार किया। जिस प्रकार इन सबने शंका रहित कार्य किया इसी तरह सभी भव्योंको जिनेन्द्रके वचनोंमें शंका नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार व्यवहारनयसे सम्यक्त्वका कथन जानना चाहिये। निश्चयसे व्यवहार निःशंकित गुणसे इस लोकका भय, परलोकका भय, अनरक्षाभय, मरणभय, व्याधिभय, वेदनाभय और आकस्मिकभय इन सात भयोंको छोडकर घोर उपसर्ग और परीषहोंके आनेपर भी शुद्ध उपयोग रूप निश्चय रत्नत्रयसे चलायमान नहीं होनाही निःशंकित गुण जानना चाहिये।

इस लोक और पर लोक संबंघी आशा रूप भोगाकांक्षा निदानका त्याग कर जो केवल ज्ञान आदि अनंत गुणोंकी प्रगटता रूप मोक्षके लिये ज्ञान पूजा तपश्चरण आदि अनुष्ठनोंका करना सो निःकांक्षित गुण है। इस गुणके पालनेमें अनंतमतीकी कथा प्रसिद्ध है। यहां सीता महारानीकी कथा कही जाती है—जब लोकके अपवादको दूर करनेके लिये सीताजी अग्निकुंडमें प्रविष्ट होकर निर्दोष सिद्ध हुई तब श्रीरामने उनको पट्टरानीका पद दिया परंतु सीताजीने पट्टरानीकी संपदाको छोड़कर केवल ज्ञानी श्रीसकल भूषण

मुनिके स[illegible] कृतान्तवक्र आदि राजा तथा बहुतसी रानियों सहित आर्यिकादीक्षाको ग्रहण करके शशिप्रभा आदि आर्यिकाके समूह सहित ग्राम पुर आदिमें विहार कर भेदाभेद रत्नत्रयकी भावनासे बासठ वर्ष पर्यंत जैन धर्मकी प्रभावना की। अन्त्य समयमें तेतीस दिन तक निर्विकार परमात्माके ध्यान पूर्वक सन्यास (समाधि मरण) करके अच्युत नामक सोलहवें स्वर्गमें प्रतीन्द्र हुई। और वहां पर प्रतीन्द्रने अवधिज्ञानसे निर्मल सम्यग्दर्शनके फलको देखकर धर्मके अनुरागसे नरकमें जाकर रावण और लक्ष्मणके जीवोंको संबोधा और वह इस समय प्रतीन्द्र रूपसे स्वर्गमें रह रही हैं। आगे यही सीताका जीव स्वर्गसे आकर सकल चक्रवर्ती होगा और रावण लक्ष्मणके जीव इस चक्रवर्तीके पुत्र होंगे। बादमें श्रीतीर्थंकरके चरण मूलमें अपने पूर्व भवोंका हाल जानकर सीताजी (वर्तमान सकल चक्रवर्ती) के साथ दीक्षाको ग्रहण कर भेदाभेद रत्नत्रयकी भावनासे तीनों जीव पांच अनुत्तर विमानोंमें अहमिन्द्र होंगे।

वहांसे आकर रावण तो तीर्थंकर होगा और सीताजी का जीव गणधर होगा और लक्ष्मणजीका जीव धातकी खंड द्वीपमें तीर्थंकर होगा। इस प्रकार व्यवहार निःकांक्षित गुण का स्वरूप जानना चाहिये। निश्चयसे उसी व्यवहार निःकांक्षा गुणकी सहायतासे देखे सुने तथा अनुभव किये हुए

पांचों इन्द्रियोंके विषय भोगोंके त्यागसे निश्चय रत्नत्रयकी भावनासे उत्पन्न जो पारमार्थिक निज आत्मासे उत्पन्न सुख रूपी अमृत रसमें चित्तका संतुष्ट होना सोही निःकांक्षित गुण है।

भेद अभेद रूप रत्नत्रयकी आराधना करनेवाले भव्य जीवोंकी दुर्गंधित और भयंकर आकृति आदिको देखकर धर्म-बुद्धिसे अथवा करुणा भावसे यथायोग्य ग्लानिभावको दूर करना सो द्रव्यनिर्विचिकित्सा गुण है। और 'जैन मतमें सब अच्छी २ बातें हैं परन्तु नग्नपना और जलसे स्नान न करना ये दूषण हैं' इत्यादि रूपके भाव करना सो ऐसे भावों को विशेष ज्ञानके बलसे दूर करना सो भावनिर्विचिकित्सा कहलाती है। व्यवहारनिर्विचिकित्साके विषयमें व्यवहार नामक महाराजा और रुक्मणी नामक श्रीकृष्णकी पट्टरानी की कथा प्रसिद्ध है। निश्चयसे इसी व्यवहार निर्विचिकित्सा गुणके बलसे संपूर्ण राग द्वेष रूप आदि विकल्प रूप तरंगोंके समूहका त्याग करके निर्मल आत्मानुभव लक्षण निज शुद्ध आत्मामें निवास करना सो निर्विचिकित्सा गुण है।

श्रीवीतराग सर्वज्ञ देव कथित जो शास्त्रका आशय है उससे बहिर्भूत जो कुदृष्टियोंके बनाये हुए अज्ञानी जनोंके चित्तमें विस्मय उत्पन्न करने वाले धातुवाद (रसायनशास्त्र) खन्यवाद, हरमेखल, क्षुद्रविद्या, व्यन्तर विकुर्वणादिक शास्त्र

हैं उनको देखकर तथा सुनकरके जो कोई मूढभावसे धर्मकी बुद्धि करके उनमें प्रीति तथा भक्ति नहीं करता है उसको व्यवहारसे अमूढदृष्टि गुण कहते । इस गुणके पालनेके विषयमें उत्तर मथुरामें उदुरुलि भट्टारक, रेवती श्राविका और चन्द्रप्रभ नामक विद्याधर ब्रह्मचारी संबंधी कथा शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। निश्चयसे इसी व्यवहार अमूढदृष्टि गुणके प्रसादसे जब अंतरंगके तत्त्व (आत्मा) और बाह्यतत्त्व (शरीरादि) का निश्चय हो जाता है तब संपूर्ण मिथ्यात्व, रागादि तथा शुभ अशुभ-संकल्प विकल्पोंके इष्ट जो इनमें आत्मबुद्धि, उपादेयबुद्धि, हितबुद्धि और ममत्वभाव हैं उनको छोडकर मन वचन काय इन तीनोंकी गुप्ति रूपसे विशुद्ध ज्ञान तथा दर्शन स्वभावका धारक निज आत्मा है उसमें जो निवास करना है वही अमूढदृष्टि नामा गुण है। पुत्र तथा स्त्री आदि जो बाह्य पदार्थ हैं उनमें "ये मेरे हैं" ऐसी कल्पना करनेको संकल्प कहते हैं और अंतरंगमें "मैं सुखी हूं मैं दुखी हूं" इस प्रकारके हर्ष वा खेदका करना सो विकल्प है। अथवा यथार्थ रूपसे जो संकल्प है वही विकल्प है अर्थात् संकल्पके विवरण रूपसे विकल्प संकल्पका पर्याय रूप ही है।

यद्यपि भेद अभेद रत्नत्रयकी भावना रूप जो मोक्ष मार्ग है वह स्वभावसे ही शुद्ध है, तथापि उसमें जब कभी

अज्ञानी वा असमर्थ मनुष्यके निमित्तसे जो धर्मकी चुगली निंदा दूषण तथा अप्रभावना हो तब शास्त्रके अनुसार शक्ति कं माफिक धनसे अथवा धर्मके उपदेशसे जो धर्मके लिये दोषोंका ढाकना है तथा दूर करना है उसको व्यवहार उपगूहन अंग या गुण कहते हैं। इस व्यवहार उपगूहन गुणके पालनेसे विषयमें जब एक कपटी ब्रह्मचारीने श्रीपार्श्वनाथ स्वामीकी प्रतिमामें लगे हुए रत्नको चुराया उस समय जिनदत्त सेठने जो उपगूहन (उस दोषका छिपाना) किया था वह कथा शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। अथवा रूद्र (महादेव) की जो ज्येष्ठा नामकी माता थी उसका जब लोकापवाद हुआ तब उसके दोषके ढकनेमें चेलनी महारानीकी कथा शास्त्र प्रसिद्ध है। इसी प्रकार निश्चयसे व्यवहार उपगूहन गुणकी सहायतासे अपने निरंजन निर्दोष परमात्माको ढकने वाले जो रागादि दोष हैं उन दोषोंका उसी परमात्मामें सम्यक् श्रद्धान ज्ञान तथा आचरण रूप जो ध्यान है उससे जो ढकना-नाश करना- छिपाना है सो उपगूहन है।

भेद तथा अभेद रूप रत्नत्रयको धारण करनेवाला जो मुनि-अर्यिका-श्रावक तथा श्राविका रूप चार प्रकारका संघ है उसमें से जो कोई दर्शनमोहनीय (मिथ्यात्व) के उदयसे दर्शनको अथवा चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे चारित्रको छोडनेकी इच्छा करे उसको शास्त्रकी आज्ञानुसार यथाशक्ति धर्मोपदेश श्रवण करानेसे, धनसे वा सामर्थ्यसे

अथवा अन्य और किसी उपायसे जो धर्ममें स्थिर कर देना हैं वह व्यवहारसे स्थितिकरण गुण है। इस गुणमें पुष्पडाल मुनिको धर्ममें स्थिर करनेके प्रसंगमें वारिषेण कुमारकी कथा शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। निश्चयसे उसी व्यवहार स्थितिकरण गुणसे जब धर्ममें दृढता होजावे तब दर्शन मोहनीय तथा चारित्रमोहनीयके उदयसे उत्पन्न जो संपूर्ण मिथ्यात्व रागादि विकल्पोंका समूह है उसके त्याग द्वारा निज परमात्माकी भावनासे उत्पन्न परम आनंद रूप सुखामृत रसके आस्वाद रूप जो परमात्मामें लीन अथवा परमात्म स्वरूप समरसी [समता] भाव हैं उससे जो चित्तका स्थिर करना है वही स्थितिकरण गुण है। अब वात्सल्य नामासप्तम गुणका निरूपण करते हैं।

बाह्य और आभ्यंतर इन दोनों प्रकारके रत्नत्रयको धारण करने वाले मुनि आर्यिका, श्रावक तथा श्राविका रूप चारों प्रकारके संघमें जैसे गौ अपने बछडेमें प्रीति करती है, उसके समान अथवा पांचों इन्द्रियोंके विषयोंके निमित्त पुत्र स्त्री सुवर्ण आदिमें जो स्नेह रहता है उसके समान अतुल्य स्नेह (प्रीति) का करना वह व्यवहारनयकी अपेक्षासे वात्सल्य कहा जाता है। इस विषयमें हस्तिनापुरके राजा पद्मराजके बली नामक दुष्ट मंत्रीने जब निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय के आराधक अकंपनाचार्य आदि सातसौ मुनियोंको उपसर्ग

किया तब निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्गके आराधने वाले विष्णुकुमार नामक महामुनीश्वरने विक्रिया ऋद्धिके प्रभावसे वामन (ठिगना) रूपको धारण करके बली नामक दुष्ट मंत्रीके पाससे तीन पग प्रमाण पृथिवीकी याचना की। जब बलीने देना स्वीकार किया तब एक पग तो मेरूके शिखरपर दिया, दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर दिया। और तीसरे पाद को रखनेके लिये अवकाश नहीं रहा तब वचन छलसे प्रतिज्ञा भंगका दोष लगाकर मुनियोंके वात्सल्य निमित्त बली मंत्रीको बांध लिया। यह तो एक आगम प्रसिद्ध कथा है ही और दूसरी वज्रकर्ण नामक दशपुरनगरके राजा की प्रसिद्ध कथा है। और वह इस प्रकार है।

उज्जैनीके राजा सिंहोदरने, वज्रकर्ण जैनी है और मुझको नमस्कार नहीं करता है ऐसा विचार करके जब वज्रकर्णसे नमस्कार करानेके लिये दशपुर नगरको घेरकर घोर उपसर्ग किया तब भेदाभेद रत्नत्रयकी भावना है प्यारी जिनको ऐसी श्रीरामचन्द्रजीने वज्रकर्णके वात्सल्यके लिये सिंहोदरको बांध लिया। इस प्रकार यह कथा रामायण [पद्मपुराण] में प्रसिद्ध है। और इसी प्रकार व्यवहार वात्सल्य गुणके सहकारीपनेसे जब धर्ममें दृढता होजाती है तब मिथ्यात्व रागादि संपूर्ण बाह्य पदार्थोंमें प्रीतिको छोड़-कर रागादि विकल्पोंकी उपाधि रहित परम स्वास्थ्यके

ज्ञानसे उत्पन्न सदा आनंद रूप जो सुखामृतका आस्वाद है उसके प्रति प्रीतिका करना ही निश्चय वात्सल्य है। इस प्रकार वात्सल्य गुणका कथन किया।

प्रभावना गुण निरूपण—

श्रावक तो दानपूजा आदिसे जैनधर्मकी प्रभावना करे और मुनि तप शास्त्रज्ञान, आदिसे जैनधर्मकी प्रभावना करे, वही व्यवहारसे प्रभावना गुण है ऐसा जानना चाहिये। इस गुण के पालनेमें उत्तर मथुरामें जिनमतकी प्रभावना करनेका है स्वभाव जिसका ऐसी उरविला महादेवीको प्रभावनाके निमित्त जब उपसर्ग हुवा तब वज्रकुमार नामक विद्याधर श्रमणने आकाशमें जैनरथको फिराकर प्रभावना की, यह तो एक शास्त्रमें प्रसिद्ध कथा है। और दूसरी कथा ये है कि उसी भव में मोक्ष जाने वाले हरिषेण नामक दशवें चक्रवर्ती ने जिनमतकी प्रभावना करनेका है स्वभाव जिसका ऐसी अपनी माता वप्रा महादेवीके निमित्त और अपने धर्मानुरागसे जिनमतकी प्रभावनाके लिये ऊंचे तोरणके धारक जिनमंदिर आदिसे समस्त पृथिवी तलको भूषित कर दिया। इस प्रकार यह कथा रामायणमें प्रसिद्ध है।

निश्चयसे इसी व्यवहार प्रभावनाके बलसे मिथ्यात्त्व, विषय कषाय आदि जो संपूर्ण विभाव परिणाम हैं उन रूप जो परमतोंका प्रभाव है उसको नष्ट करके शुद्धोपयोग लक्षण

स्वसंवेदन ज्ञानसे निर्मलज्ञान, दर्शनरूप स्वभावके धारक निज शुद्ध आत्माका जो प्रकाशन अर्थात् अनुभवन करना सो प्रभावना है।

इस प्रकार तीन मूढता, आठ मद, छह अनायतन, शंकादि आठ दोष रूप पच्चीस मल हैं उनसे रहित तथा शुद्ध जीव आदि तत्त्वार्थोंका श्रद्धान रूप लक्षणका धारक सरागसम्यक्त्व है दूसरा नाम जिसका ऐसा व्यवहार सम्यक्त्व जानना चाहिये।

इसी प्रकार उसी व्यवहार सम्यक्त्व द्वारा परंपरासे साधने योग्य शुद्ध उपयोग रूप निश्चय रत्नत्रयकी भावनासे उत्पन्न जो परम आल्हाद रूप सुखामृत रसका आस्वादन है वही उपादेय है और इन्द्रियजन्य सुख आदिक हेय हैं ऐसी रुचि रूप तथा वीतराग चारित्रके बिना नहीं उत्पन्न होनेवाला ऐसा वीतराग सम्यक्त्व नामका धारक निश्चय सम्यक्त्व जानना चाहिये। यहां इस व्यवहार सम्यक्त्वके व्याख्यान में निश्चय सम्यक्त्वका वर्णन क्यों किया? ऐसा प्रश्न करो तो उत्तर यह है कि व्यवहार सम्यक्त्वसे निश्चय सम्यक्त्व साधा जाता है इस साध्य साधक भावको अर्थात् व्यवहार सम्यक्त्व साधक और निश्चय सम्यक्त्व साध्य है। इस बातको बतलानेके लिये किया गया है।

भगवान समंतभद्राचार्यने अपने रत्नकरण्ड श्रावका

चारमें सम्यग्दर्शनकी महिमाका वर्णन निम्न प्रकारसे किया है—

सम्यग्दर्शनसंपन्नमपि मातंगदेहजम् ।
देवा देवं विदुर्भस्म गूढांगारांतरौजसम् ॥२८॥

अर्थ-संसारमें सम्यग्दर्शन सबसे श्रेष्ठ गुण है वह जिसके पास हो जाता है वह मनुष्य किसी भी वर्णका हो मान्य हो जाता है। यही बात इस श्लोकमें बतलाई गई है कि सम्यग्दर्शन सहित यदि चाण्डाल भी हो तो उसको गणधरादि देव .देवके समान मानते हैं। क्योंकि उस चांडालको अंतरगमें भगवान जिनेन्द्रके वचनोंमें पूर्ण श्रद्धा है बाह्य रूपमें भल ही वह चाण्डालोचित कार्य करता हो। वह तो अपने अंतरंगमें रहने वाले सम्यग्दर्शन गुणसे उस तरह देदीप्यमान होता है जैसे भस्म (राख) से ढका हुआ अंगार।

प्रश्न-सम्यग्दर्शन ऐसा कौनसा पदार्थ है जिसका व्याख्यान सारे ग्रंथोंमें पाया जाता है। इसलिये उसके गुण और उसकी महिमाका अच्छी तरह वर्णन कीजिये ?-

उत्तर—देखो सम्यग्दर्शनकी महिमा ऊपर, बतलाही दी गई है आगे और भी सुनिये—

दर्शनं ज्ञानचारित्रात् साधिमानुपाश्नुते ।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्ष्यते ॥

अर्थ—ज्ञान और चारित्रकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन मुख्य माना गया है, क्यों कि सम्यग्दर्शन मोक्षमार्गमें खेवटिया (मल्लाह) के समान है। जैसे कोई मनुष्य नावसे बडी और गहरी नदीके उस पार जाना चाहता हो उसके पास नाव तो हो जिसमें बैठकर नदीके उस पार जा सकता हो पर उस नावको खेकर ले जाने वाला मल्लाह न हो तो वह नौका उस मनुष्यको नदीके उस पार नहीं ले जा सकती। उसी प्रकार मोक्षमार्गमें चलने वाले मनुष्यके पास संसार समुद्रसे पार लगाने वाले ज्ञान चारित्र हों लेकिन सम्यग्दर्शन न हो तो वह भव्य संसार समुद्रके किनारे नहीं जा सकता इसलिये ज्ञान और चारित्रसे दर्शनकी मुख्यता मानी गई है। और भी बतलाया गया है कि—

विद्यावृत्तस्य संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥३२॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके न होने पर ज्ञान और चारित्रकी उत्पत्ति, वृद्धि और उनमें फलोंका उदय होना नहीं हो सकता है। जैसे बीजके न रहने पर वृक्ष नहीं हो सक्ते हैं। भाव ये है कि जैसे बीजके अभावमें वृक्षकी उत्पत्ति, वृद्धि और उसमें फलोंका उत्पन्न होना असंभव है उसी तरह सम्यग्दर्शन रूपी बीजके अभावमें ज्ञान चारित्र रूपी वृक्षकी न तो उत्पत्ति हो सकती है न उसकी वृद्धि हो सकती है

और न उसमें मोक्ष रूपी फलही लग सकते हैं। अत एव सम्यग्दर्शनकी परमावश्यकता है। औरभी बतलाया गया है कि—

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
ऽश्रयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥

अर्थ—तीन लोक और तीन कालमें सम्यग्दर्शन सरीखा कोई पदार्थ जीवका कल्याण करने वाला नहीं है और मिथ्यात्वके समान अकल्याण करने वाला नहीं है। इसलिये हे भव्यो! मिथ्यात्वका वमन करके शीघ्रसे शीघ्र अपने आत्मा में सम्यक्त्वकी जाग्रति करो

अब जिन जीवोंके सम्यग्दर्शन ग्रहण होनेके पहिल आयुका बंध नहीं हुआ वे व्रतके अभाव होने पर भी अर्थात् उनके व्रतके न होने पर भी नर नारक आदि निंदनीय स्थानोंमें जन्म नहीं लेते ऐसा कहनेको कहते हैं—

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकातिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतांचब्रजन्तिनाप्यव्रतिकाः ॥

अर्थ—जिनके शुद्ध सम्यग्दर्शन होगया है ऐसे शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव नरक गति और तिर्यंच गतिमें नहीं उत्पन्न होते हैं नपुंसक, स्त्री, नीचकुल, अंगहीन शरीर, अल्पायु और दरिद्रीपनको नहीं प्राप्त होते हैं।

जो सम्यग्दृष्टि जीव देवगतिमें उत्पन्न होवे तो प्रकी-

र्णक देव, वाहन देव, किल्विष देव, व्यन्तर देव, भवनवासी देव और ज्योतिषी देवोंकी पर्यायको छोडकर अन्य महा-ऋद्धिके धारक देव हैं उनमें उत्पन्न होते हैं।

जिन्होंने सम्यक्त्व ग्रहण करनेके पहिले ही दवायुको छोडकर अन्य किसी आयुका बंध कर लिया है उनके प्रति सम्यक्त्वका माहात्म्य कहते हैं–

हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइसवणभवणसव्वइत्थीणं।
पुण्णिदरे ण हि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णे॥

अर्थ—प्रथम नरकको छोडकर अन्य छह नरकोंमें, ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासी देवोंमें सब स्त्रीलिंगों और तिर्यंचोंमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होता! इसी आशय को अन्य प्रकारसे कहते हैं–

ज्योतिर्भावनभौमेषु षट्स्वधःश्वभ्रभूमिषु।
तिर्यक्षु नृसुरस्त्रीषु सद्दृष्टिर्नैव जायते॥

अर्थ-ज्योतिषी, भवनवासी और व्यन्तरदेवोंमें, नीचेके ६ नरकोंकी पृथिवियोंमें, तिर्यंचोंमें, मनुष्यनियों और देवांगनाओंमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होता है।

अब औपशमिक, क्षायिक, और वेदक नामके जो तीन तरहके सम्यक्त्व हैं उनमेंसे कौनगतिमें किस सम्यक्त्वकी उत्पत्ति हो सकती है यह बतलाया जाता है।

सौधर्मादिष्वसंख्याब्दायुष्कतिर्यक्षु नृष्वपि।

रत्नप्रभावनौ च स्यात्सम्यक्त्वत्रयमङ्गिनाम् ॥

अर्थ—सौधर्मादि स्वर्गोंमें, असंख्यात वर्षकी आयुके धारक तिर्यंच और मनुष्योंमें अर्थात् भोगभूमिके मनुष्य और तिर्यंचोंमें तथा रत्नप्रभा नामकी नरककी पहिली पृथिवीमें, जीवोंके उपशम, वेदक और क्षायिक ये तीनों सम्यक्त्व होते हैं; और जिसने आयुका बांध लिया है अथवा प्राप्त कर लिया है ऐसे कर्मभूमिके मनुष्योंमें तीनों ही सम्यक्त्व होते हैं। परंतु विशेष इतना है कि अपर्याप्त अवस्थामें औपशमिक सम्यक्त्व महार्द्धिक देवोंमें ही होता है

शेषेषु देवतिर्यक्षु षट्स्वधः श्वभ्रभूमिषु ।
द्वौवेदकोपशमकौ स्यातां पर्याप्तदेहिनाम् ॥

और शेष (बचे हुए) जो देव और तिर्यंच हैं उनमें तथा छह नीचेकी नरकभूमियोंमें पर्याप्त जीवोंके वेदक और उपशम ये दो सम्यक्त्व होते हैं। इस प्रकार निश्चय तथा व्यवहार रूप सम्यक्त्व हैं। उनकी आराधनासे और क्या २ होता है सो बतलाते हैं कि—

जो सम्यग्दृष्टि मनुष्य गतिमें उत्पन्न होता है उसका उसके प्रभावसे—

ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः ।
उत्तमकुलामहार्था मानवतिलका भवंति दर्शनपूताः ॥

अर्थ—दीप्ति, प्रताप, विद्या, वीर्य, यश, वृद्धि, विजय

और विभव मिलते हैं और वे उत्तम कुलवाले, तथा भारी धनके स्वामी होते हैं इन गुणोंसे युक्त होते हुए भी मनुष्यों में श्रेष्ठ होते हैं।

अब बतलाते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव ही इन्द्र पदको प्राप्त करते हैं—

अष्टगुणपुष्टितुष्टा दृष्टिविशिष्टाः प्रकृष्टशोभाजुष्टाः।
अमराप्सरसां परिषदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे॥

अर्थ—शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव भगवान जिनेन्द्रके भक्त होते हुए स्वर्गमें इन्द्र भी होजाते हैं। वहां पर अणिमा, गरिमा, महिमा, लघिमा प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व, इन आठ ऋद्धियोंसे विशिष्ट अथवा सन्तुष्ट और विशेष सुंदरता व वैक्रियिक शरीर सहित होते हैं और देवों तथा देवांगनाओंकी सभामें बहुत समय तक आनन्द भोगते हैं।

अब बतलाते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव ही चक्रवर्ती पद धारण करता है—

नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रम्।
वर्तयितुं प्रभवंति स्पष्टदृशः क्षत्रमौलिशेखरचरणाः॥

अर्थ—निर्मल सम्यग्दृष्टि जीव मरनेके बाद सम्यक्त्व के प्रभावसे चक्रवर्ती होकर बत्तीस हजार मुकुट बन्ध राजाओं का स्वामी तथा इतने ही देशोंका अधिपति होकर नव निधि चौदह रत्नोंका स्वामी षट खण्ड पृथ्वी पर एक छत्र राज्य करता है।

अब बतलाते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव ही तीर्थंकर होता है—

अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्च नूतपादाम्भोजाः ।
दृष्ट्या सुनिश्चितार्थाः वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः ॥

अर्थ—शुद्ध सम्यग्दर्शनके प्रभावसे जीव देवेन्द्र, धरणीन्द्र, नरेन्द्र (चक्रवर्ती) तथा चार ज्ञानके धारी श्री गणधर देवसे भी पूजनीय होते हुए तीनों लोकोंके जीवोंके शरणभूत, धर्मचक्रके धारक तीर्थंकर होते हैं।

अब बतलाते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव इन २ पदोंसे विभूषित होता है—

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानं ।
राजेन्द्रचक्रभवनींद्रशिरोऽर्चनीयम् ॥
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकम् ।
लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्याः ॥

अर्थ—जिनेन्द्रदेवके भक्त भव्य सम्यग्दृष्टि जीव अपरिमित देवेन्द्रोंके ऐश्वर्यको पाकर तथा राजाओंके द्वारा उनके मस्तकोंसे पूज्य चक्रवर्तीके पदको पाकर समस्त लोकमें उत्तम ऐसे तीर्थंकर पदको भी पाकर धर्मचक्रके धारक होते हुए मोक्षको भी प्राप्त कर लेते हैं, अर्थात् शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव-धरणीन्द्र, राजेन्द्र, देवेन्द्र आदि ऊंची २ पदवीको पाते हैं सो तो पाते ही हैं, लेकिन तीन लोकका पूज्य ऐसा तीर्थंकर पद पाकर मुक्तिको भी प्राप्त कर लेते हैं यही बडा भारी अद्भुत माहात्म्य है।

प्रश्न—यदि सम्यग्दर्शनके प्रभावसे मोक्ष पाजाता है

तो मोक्षमें जीवकी क्या हालत होती है ?

उत्तर-नीचे लिखी दशा जीवकी मोक्षमें होती है।

शिवमजरमरुजमक्षयमव्यावाधं विशोकभयशंकम्।
काष्ठागतसुखविद्याविभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः॥

अर्थ-सम्यग्दृष्टि जीव बुढापा रहित, रोगरहित, क्षयरहित, बाधारहित, तथा शोक, भय, शंका, रहित, अनंत सुख तथा अनंतज्ञान सहित अपना स्वभाव भाव जो चैतन्य भाव उसीका अनुभवन करता है।

एसी हालत सम्यग्दृष्टियोंकी होती है। सो हे भव्यात्माओ अपने आत्माकी रुचि वा प्रतीति करना कभी मत भूलो। यही तुमको संसार समुद्रके पार लेजाने वाली वस्तु है।

प्रश्न-आपने जो कुछ कहा हमने वह सब अच्छी तरह सुना है और समझा है। परंतु क्या किया जाय हमारे पास जो मन है वह इतना चंचल है कि वह किसी तरह रुकता हो नहीं कृपा उसके रोकनेका उपाय बतलाइये-

उत्तर-मन तो वास्तवमें बहुत ही चपल है, उसका रोकना तो बडे २ ध्यानी और ज्ञानियोंसे ही हो सकता है। मन की चंचलता के विषयमें भाषा समयसारमें कहा है कि-

छिनमें प्रवीन छिन ही में माया सौं मलीन,
छिनकमें दीन छिन मांहि जैसो सक्र है।

लियें दौरधूप छिनछिनमैं अनंत रूप,
कोलाहल ठानत मथानकौ सौ तक्र है ॥
नटकौ सौ थार किधौंहार है रहट कौसौ,
धार कौसौ भौंर कि कुम्हार कौसौ चक्र है।
ऐसौ मन भ्रामक सुथिरु आजु कैसे होय,
ओरहीकौ चंचल अनादिहीकौ वक्र है ॥

अर्थ—यह मन क्षणभरमें पंडित बन जाता है। क्षणभरमें मायासे मलीन हो जाता है। क्षणभरमें विषयोंके लिये दीन होता है। क्षणभरमें गर्वसे इन्द्र जैसा बन जाता है। क्षणभरमें जहां तहां दौड लगाता है। और क्षणभरमें अनेक वेष बनाता है। जिस प्रकार दही बिलोवने पर छाछकी गडगडी होती है वैसा कोलाहल मचाता है। नटकाथाल, रहटकी माला, नदीकी धारका भँवर अथवा कुम्हारकेचाकके समान घूमता ही रहता है। ऐसा भ्रमण करने वाला मन आज कैसे स्थिर हो सकता है। जो मन स्वभावसे ही चचल और अनादि कालसे वक्र है, मनकी चंचलता पर तो ज्ञानका ही प्रभाव पडता है सो ही बतलाया जाता है—

धायौ सदा काल पै न पायौ कहुं साचौ सुख,
रूपसौं विमुख दुखकूपवास वसा है।
धरमको घाती अधरमकौ संघाती,
महा कुरापाती जाकी सनिपातकी सी दशा है ॥

मायाकौं झपटि गहै कायासौं लपटि रहै,
भूल्यौ भ्रमभीरमैं वहीरकौ सौ ससा है ॥
ऐसो मन चंचल पताका कौसौ अंचल,
सुज्ञानके जगैसौं निर्वाण पंथ धसा है ॥

अर्थ—यह मन सुखके लिये हमेशासे ही भटकता आ रहा है पर इसने कहीं सच्चा सुख नहीं पाया । अपने स्वानुभवके सुखसे विरुद्ध हुवा दुःखोंके कुएमें पड रहा है । ये तो धर्मका घात करनेवाला है, अधर्मका संगी, महा उपद्रवी, सन्निपातके रोगीके समान असावधान हो रहा है। धन संपत्ति आदिका फुर्तिके साथ ग्रहण करता है और शरीर से प्रीति करता है, भ्रमजालमें पडा हुआ ऐसा भूल रहा है जैसे शिकारीके घेरेमें खरगोश भ्रमण करता है। यह मन पताकाके समान वस्त्रके समान चंचल है। वह तो ज्ञानका उदय होनेसे मोक्षमार्गमें प्रवेश करता है।

प्रश्न—यदि मन ऐसा चंचल है तो उसके स्थिर करनेका क्या उपाय है ?

उत्तर—उसके स्थिर करनेका उपाय निम्न छंदमें बतलाया है सो ध्यानमें लो—

दोहा—जो मन विषय कषायमें बरतै चंचल सोय ।
जो मन ध्यान विचार सौं रुकै सुअविचल होय ॥

अर्थ—जो मन पांचों इन्द्रियोंके विषय सेवनेकी तरफ और क्रोधादि कषायोंमें उलझा रहता है वह सदा चंचल रहता है। और आत्माके स्वरूपके चिंतवन लगा रहता है वह स्थिर हो जाता है। फिर छंद—

तात विषय कषायसौं फेर सुमनकी वानि।
सुद्धातम अनुभौ विषैं कीजै अविचल आनि॥

अर्थ—इससे मनकी प्रवृत्ति विषय कषायसे हटाकर उसे शुद्धात्माके अनुभवकी ओर लाओ और स्थिर करो। सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य प्रवर नेमिचंद्रजीने कहा है कि—

तपसुदवदव चेदा झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा।
तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह॥

अर्थ—क्योंकि तप, श्रुत और व्रतका धारक आत्मा ध्यान रूपी रथकी धुराको धारण करनेवाला होता है। इसलिये हे भव्यजन हो तुम उस ध्यानकी प्राप्तिके लिये निरंतर तप श्रुत और व्रत इन तीनोंमें तत्पर रहो। मतलब ये है कि मन चंचल तभी रहता है जब वह विषय कषायोंमें उलझा रहता उसी मनको यदि अनशनादि तप, श्रुतज्ञान और अहिंसादि व्रतोंकी तरफ झुका दिया जाता है तो वह धीरे २ स्थिर होने लगता है। यदि उसकी स्थिरता होने लग तो आत्मस्वरूपके चिंतवनमें दृढता होने लग जायगी।

प्रश्न-हे भगवन् ! ध्यान तो मोक्षप्राप्तिका कारण है और व्रतका धारण करना पुण्यबधका कारण है। पुण्य बंध संसार ही में रखनेका हेतु है, पुण्यसे देवगति आदिके वैषयिक सुखही मिल सकते हैं और उनसे पुनः कर्मोंका बंध होता है इसलिये व्रत तों त्याज्य ही है उसको ध्यान धारण करनेमें कारण क्यों बतलाया है ? सो कृपाकर समझाइये।

उत्तर—तुमने कहा सो ठीक है लेकिन केवल व्रत ही त्यागने योग्य है ऐसा नहीं है, किंतु पापबधके कारण हिंसादि अव्रत भी त्यागने योग्य हैं। इसी बातको पूज्य पाद स्वामीने कहा है कि-

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्यय ।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥

अर्थ—हिंसा आदि अव्रतोंसे पापबंध होता है तथा अहिंसादि व्रतोंसे पुण्यका बंध होता है। पाप पुण्य इन दोनोंके नाश करनेमे मोक्ष मिलता है। इसलिये मोक्षको चाहनेवाला पुरुष जैसे अव्रतोंका त्याग करता है उसी तरह व्रतोंका भी त्याग करै।

विशेष इतना है कि मोक्षार्थी पुरुष पहिले अव्रतोंका त्याग करके बादमें व्रतोंका धारक होकर निर्विकल्प समाधि रूप आत्माके परम पदको प्राप्त होकर तदनंतर एकदेश व्रतोंका भी त्याग कर देता है। यह भी उन्हीं पूज्यपाद

स्वामीने समाधिशतकमें कहा है कि–

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः ।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः ॥

अर्थ–मोक्षको चाहने वाला पुरुष अव्रतोंका त्याग करके व्रतोंमें स्थित होकर आत्माके परम पदको पावे और उस आत्माके परम पदको पाकर उन व्रतोंका भी त्याग करे। इस कथनमें भी विशेषता ये है कि मन वचन कायकी गुप्ति रूप और निज शुद्ध आत्माके ज्ञान स्वरूप जो निर्विकल्प ध्यान है उसमें व्यवहार रूप प्रसिद्ध जो एकदेशव्रत है उसका तो त्याग किया है। और संपूर्ण शुभ तथा अशुभकी निवृत्तिरूप जो निश्चयव्रत है उसको स्वीकारही किया है, त्याग नहीं किया है। प्रसिद्ध जो अहिंसादि महाव्रत हैं वे एकदेश रूप कैसे होगये? इस शंकाका समाधान ऐसा है कि अहिंसा महाव्रतमें यद्यपि जीवोंके घातसे निवृत्ति है तथापि जीवोंकी रक्षा करनेमें प्रवृत्ति है। इसी प्रकार सत्य महाव्रतादिमें जानना चाहिये। इस एकदेश प्रवृत्तिकी अपेक्षासे ये पांचों महाव्रत देशव्रत हैं। इसी प्रकार देशरूप व्रतोंका मन वचन और कायकी गुप्ति स्वरूप जो विकल्प रहित ध्यान है उस(ध्यान)के समयमें त्याग है। और संपूर्ण शुभ और अशुभकी निवृत्ति रूप जो निश्चयव्रत है उसका त्याग नहीं है।

प्रश्न—त्याग शब्दका क्या अर्थ है?

उत्तर—जैसे हिंसा आदि रूप पांच अविरतोंमें निवृत्ति है उसी प्रकार अहिंसादि पंच महाव्रत रूप एकदेश व्रत हैं उनमें निवृत्ति है, यही यहां त्याग शब्दका अर्थ है। इन एकदेशव्रतोंका त्याग किस कारणसे होता है ? यदि ऐसा पूंछो तो उत्तर ये है कि मन वचन कायको गुप्तिरूप जो अवस्था है उसमें प्रवृत्ति तथा निवृत्ति रूप जो विकल्प उसका स्वयं ही अवकाश नहीं है, अर्थात् मन वचन काय की गुप्तिरूप ध्यानमें किसी प्रकारका भी विकल्प नहीं होता है, अहिंसादि महाव्रत तो विकल्प रूप हैं इसलिये वे त्रिगुप्ति रूप ध्यानमें नहीं रह सकते हैं। जो दीक्षाके पश्चात् दो घडी प्रमाण कालमें ही श्री भरतचक्रवर्ती मोक्ष पधारे हैं उन्होंने भी जिनदीक्षाको ग्रहण करके क्षणमात्र विषय कषायोंसे रहित होकर जो व्रतका परिणाम है उसको प्राप्त करके तत्पश्चात शुद्धोपयोग रूप जो रत्नत्रय उस स्वरूप जो निश्चयव्रत नामका धारक और वीतराग सामायिक नामका धारक निर्विकल्प ध्यान है उसमें स्थित होकर केवल ज्ञान को प्राप्त किया है परंतु श्रीभरतजीके जो थोडे समयव्रत परिणाम रहा इस कारण लोग श्रीभरतजीके व्रत परिणामको नहीं जान सके हैं। अब उसी श्रीभरतजीकी दीक्षाके विधानका कथन कहा जाता है—

श्रीवीर वर्धमान स्वामी तीर्थंकर परमदेवके समोसरणमें

श्रेणिक महाराजने प्रश्न किया कि हे भगवन् श्री भरतचक्र-वर्तीको जिनदीक्षा ग्रहण करनेके पीछे कितने कालमें केवल-ज्ञान उत्पन्न हुआ ? इस पर श्री गौतमस्वामि गणधरदेवने उत्तर दिया कि-हे राजन् श्रेणिक बंधके कारणभूत जो केश हैं उनको पांच मुष्टियोंसे उपाडकर तोडते हुए ही अर्थात् पंच मुष्टि लौंच करनेके बादही श्री भरत चक्रवर्ती केवल ज्ञानको प्राप्त हुए। अब यहां पर शिष्य कहता है कि भो गुरो इस पंचम कालमें ध्यान नहीं है। क्यों नहीं है ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि इस कालमें उत्तम संहननका अर्थात् वज्रवृषभनाराच संहननका अभाव है। और दश तथा चौदह पूर्व पर्यंत श्रुतज्ञानका अभाव है !

उत्तर—आचार्य महाराज शिष्यकी शंकाका उत्तर देते हैं कि हे शिष्य ! इस समयमें शुक्लध्यान नहीं है परंतु धर्मध्यान तो है ही। इसी बातको स्वामी कुंदकुदाचार्य अपने मोक्षप्राभृतमें कहते हैं कि—

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ णाणिस्स।
तं अप्पसहावठिए ण हु मण्णइ सो दु अण्णाणी ॥
अज्जवि तियरणसुद्धा अप्पा ज्झाऊण लहइ इंदत्तम्।
लोयंतिय देवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति ॥

अर्थ— भरतक्षेत्रमें इस पंचम कालमें ज्ञानी जीवोंके धर्मध्यान है उसको जो कोई आत्माके स्वभावमें स्थित नहीं

मानता है वह अज्ञानी है। क्योंकि इस समय भी जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय है उससे शुद्ध हुए जीव आत्माका ध्यान करके इन्द्रपनेको अथवा लौकांतिक देवपनेको प्राप्त होते हैं और वहांसे चय कर नरपर्याय को ग्रहण करके उसी भवमें मोक्षको चले जाते हैं। इसी प्रकार तत्त्वानुशासन नामक ग्रंथमें भी कहा है कि—

अत्रेदानीं निषेधंति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः।
धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणिभ्यां प्राग्विवर्तिनाम्॥

अर्थ– इस समय इस पंचम कालमें श्रीजिनेंद्रदेव शुक्लध्यानका निषेध करते हैं। अर्थात् इस समयमें शुक्लध्यान नहीं होता है ऐसा उपदेश देते हैं और उपशमश्रेणी तथा क्षपकश्रेणि इन दोनों श्रेणियोंसे पहिले रहनेवाले गुणस्थानों में जीवोंके धर्मध्यान होता है ऐसा कथन करते हैं।

ऐ भव्य तुमने जो ऐसा कहा है कि इस पंचमकालमें उत्तम संहननके न होनेसे ध्यान नहीं हो सकता है सो ये वचन तो उत्सर्ग वचन है अपवाद रूप व्याख्यानसे तो उपशमश्रेणी तथा क्षपकश्रेणीमें शुक्लध्यान होता है, और वह उत्तम संहननसे ही होता है। आठवें गुणस्थानके नीचे धर्मध्यान ही होता है, और धर्मध्यान आदिके तीन संहननके अभावमें भी होता है। इस प्रकार संक्षेप रूपसे धर्म-

ध्यानके वर्णनमें ध्यानकी सामग्री बतलाई । अब शुक्लध्यान के चार पायोंका संक्षेपमें वर्णन किया जाता है-

जत्थ गुणा सुविसुद्धा उवसमखमणं च जत्थ कम्माणं।
लेस्सा वि जत्थ सुक्का तं सुक्कं भण्णदे ज्झाणं ॥ स्वामीकार्तिकेय ।

अर्थ-जिस ध्यानमें अच्छी तरह विशुद्ध व्यक्तकषायों-के अनुभव रहित उज्वल गुण ज्ञानोपयोगादि हों, तथा कर्मोंका जहां उपशम और क्षय हो, जहां लेश्या भी शुक्ल ही हो उसको शुक्लध्यान कहते हैं ।

इस प्रकार सामान्य रूपसे शुक्ल ध्यानका स्वरूप कहा गया है । कर्मोंके उपशमन और क्षमणका विधान अन्य ग्रन्थोंमें लिखा है सो वहांसे जानना चाहिये । सामान्यतया यहांभी कहा गया है जो आगे लिखा जाता है—शुक्लध्यान चार प्रकारका होता है—१) पृथक्त्ववितर्क २) एकत्ववितर्क ३) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ४) व्युपरतिक्रियानिवृत्ति । यहां क्रम ऐसा जानना चाहिये । पहिले मिथ्यात्व तीन, कषाय अनंतानुबंधी चार इन सात प्रकृतियोंका उपशम तथा क्षय करके सम्यग्दृष्टि हो । पीछे अप्रमत्त गुणस्थानमें सातिशय विशुद्धता सहित होकर श्रेणीका प्रारंभ करें, तब अपूर्वकरण गुणस्थान हो, यहींपर शुक्लध्यानका पहिला पाया प्रवर्तता है । यहां जो मोहकी प्रकृतियोंके उपशमानेका प्रारंभ करे तो अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय इन तीनों

गुणस्थानोंमें समय २ अनतगुणी विशुद्धतासे बढता हुआ मोहनीय कर्मकी शेष इक्कीस प्रकृतियोंका उपशमकर उपशांत कषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थानको प्राप्त होता है। यदि मोहकर्मके क्षपानेका प्रारंभ करे तो ऊपर कहे गये तीनों गुणस्थानोंमें मोहकर्मकी इक्कीस प्रकृतियोंका सत्तामें से नाशकर क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानको प्राप्त हो जावे। इस प्रकार शुक्लध्यानका पहिला पाया पृथक्त्ववितर्क वीचार नामका प्रवर्तता है। पृथक् माने अलग अलग वितर्क माने श्रुतज्ञानके अक्षर और अर्थ, और वीचार माने अर्थ व्यञ्जन और योगोंका पलटना ये तीनों बातें इस पहिले शुक्लध्यानमें होती हैं। इनमें अर्थ माने द्रव्य, गुण और पर्याय इनका पलटना अर्थात् द्रव्यसे द्रव्यांतर, गुणसे गुणांतर तथा पर्यायसे पर्यायान्तरका होना। एव वर्णसे वर्णान्तर तथा योगसे योगांतरका पलटना होना वह इस प्रकार कि ध्याता अपने ध्यानमें द्रव्यका ध्यान करे, द्रव्यको छोडकर पर्यायका ध्यान करे, फिर पर्यायको छोडकर द्रव्यका ध्यान करे यह अर्थसंक्रांति है। श्रुतके किसी एक वचनका अवलंबन करे उसको छोडकर किसी दूसरेका अवलंबन करे सो व्यञ्जनसंक्रांति है। काययोगको छोडकर अन्य योगका अवलंबन करे और उसकोभी छोडकर दूसरे योगको ग्रहण करे सो योगसंक्रांति है। ऐसे परिवर्तन या पलटावका नाम

वीचार है। इस शुक्लध्यानके आरंभमें ऐसी सामग्री होती कि यदि उत्तम शरीरके संहननसे परीषहोंकी बाधाके सहनेकी शक्ति रूप अपने आत्माको जान लेवे तब ध्यान करनेका आरंभ करे। कैसे आरंभ करे सो कहते हैं-पर्वतकी गुफा, कंदरा, वृक्षके कोटर, नदियोंके किनारे, श्मशान, पुराने बगीचे, शून्यगृहादिमें से कोई एकस्थान ध्यान करनेके योग्य होसकता है। तथा जो सर्व मृग पशु पक्षी मनुष्यादिकों के रहनेका स्थान नहीं हो, तथा उस स्थानमें उत्पन्न हुए हों अथवा अन्य स्थानसे आये हों ऐसे द्वीन्द्रियादि जीवोंसे रहित हों, जहां अतिगर्मीकी ऊष्मा न हो, जहां हवाका अत्यंत बहाव न हो, अतिवर्षाकी बाधा न हो, बहुत बडा न हो, बाह्य आभ्यंतर रूपसे विक्षेपका करनेवाला न हो ऐसा योग्य स्पर्श सहित पवित्र पृथ्वीपर सुखरूप रहता हुआ बांधा है पर्यंकासन जिसने, शरीरको सरल रूप कठोरता वक्रता रहित करके अपने गोदमें बायें हाथकी हथेलीपर दक्षिण हाथकी हथेली रखकर, नेत्रोंको अत्यंत उघाडे नहीं और न इकदम मीच लेवे, दांतोंसे दांत का अग्रभाग मिला हुवा रहे, मुख कुछ उठा हुआ हो, मध्यभाग पेट सरल हो, कठोरता रहित हो, परिणामोंसे मस्तक ओष्ठ गंभीर हो, मुखाकृति प्रसन्न हो, नेत्र टिमकार रहित हो, स्थिर और सौम्यदृष्टिवाला हो, निद्रा, आलस्य, काम, राग, रति, अरति,

शोक, हास्य, भय द्वेष, विचिकित्सासे रहित हो, जिसके श्वासोच्छ्वासका प्रचार मंद मंद हो इत्यादि परिकर सहित साधु मनकी वृत्तिको नाभिके ऊपर बाह्य हृदयमें या मस्तकमें या और कोई दूसरे स्थानमें जहां पहिलेसे परिचय कर रक्खा हो वहां रोक कर निश्चल मोक्षाभिलाषी होता हुवा उत्तम ध्यानको ध्यावे। उस ध्यानमें एकाग्र मन होकर उपशम कर दिया है राग द्वेष मोह जिसने, अच्छी तरह रोकी है शरीर की हलन चलन क्रिया जिसने, मंद किया है श्वासोच्छ्वास जिसने, अच्छी तरह निश्चल किया है अभिप्राय जिसने, तथा क्षमावान होकर, बाह्य आभ्यन्तर द्रव्य पर्यायोंका ध्यान करता हुवा, ग्रहण किया है श्रुतज्ञानका सामर्थ्य जिसने, ऐसे अर्थ-अक्षरमें, तथा काय वचनमें भिन्न भिन्न परिभ्रमण करने वाला, ऐसा ध्यानका ध्याता, बलके उत्साहसे रहित व्यक्तिकी तरह अनिश्चल मनसे जैसे मोथरे हथियारसे बहुत कालमें वृक्ष छेदा जाय उसी तरह मोहनीय की प्रकृतियोंका उपशम अथवा क्षय करता हुवा साधु पृथक्त्ववितर्क वीचार ध्यानका ध्याने वाला होता है।

अब इसी विधिसे मूल सहित संपूर्ण मोहनीय कर्मको दग्ध कर देनेसे अनंतगुणे विशुद्ध योगका आश्रय करके ज्ञानावरणकी सहायभूत बहुतसी प्रकृतियोंके बंधको रोकता हुवा स्थितिको घटाता तथा क्षय करता हुवा श्रुतज्ञानके

उपयोगसहित होता हुआ वैडूर्यमणिकी तरह कर्ममलके लेपसे रहित होता हुआ, ध्यान करके फिर पीछे नहीं फिरता इसलिये इसको एकत्ववितर्क शुक्लध्यान कहते हैं।

इस प्रकार एकत्ववितर्क शुक्लध्यान रूपी अग्नीसे जला दिया है घातियां कर्मरूपी ईंधन जिसने, तथा देदीप्यमान प्रगट हुआ है केवलज्ञान रूप सूर्य जिसके, ऐसा जैसे मेघपटल छिपा हुआ सूर्य मेघपटलके दूर होतेही प्रगट होजाता है, पीछे अपनी प्रभासे प्रकाशमान होजाता है, उसी प्रकार आवरण कर्मके दूर होतेही अपनी प्रभासे प्रकाशमान भगवान् तीर्थंकर तथा अन्य केवली, लोकेश्वर जो इन्द्रादिक उनसे वंदनीय पूजनीय हो जाते हैं। सो उत्कृष्टतासे कुछ कम कोटिपूर्वकी आयु प्रमाण आर्य देशोंमें विहार करते हैं।

यदि आयुका अंतर्मुहूर्त बाकी रह जाय और वेदनीय नामकर्म, गोत्रकर्मकी स्थिति भी अंतर्मुहूर्तकी ही हो तब सब बचन मनका योग और वादर काययोगका अवलंवन लेकर सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति ध्यानको प्राप्त होनेके योग्य होता है। यदि आयुकर्मकी स्थिति तो अंतर्मुहूर्तकी हो और वेदनीय, नाम, गोत्रकर्मोंकी स्थिति अधिक हो तो योगी अपने आत्मप्रदेशोंको चार समयमें दंड कपाट, प्रतर, लोकपूरण रूप करके चार समयोंमें ही प्रदेशोंका संकोचकर चारों कर्मोंकी स्थितिको अंतर्मुहूर्त प्रमाण आयुकी स्थितिके

समान करके पूर्व शरीर-प्रमाण होकर सूक्ष्मक्रियासे अप्रतिपाति ध्यानको प्राप्त होकर पीछे समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति ध्यानका आरंभ करता है।

इस अवसरमें श्वासोच्छ्वासका प्रचार, संपूर्ण मन वचन कायके योग, संपूर्ण आत्माके प्रदेशोंकी हलन चलन रूप-क्रियाका निषेध होजाता है इसलिये इस ध्यानको समुच्छि-न्नक्रियानिवृत्ति ध्यान कहते हैं।

इस समुच्छिन्नक्रियानिवृति ध्यानके होते ही संपूर्ण आस्रव और बंधका निरोध और बाकीके संपूर्ण कर्मोके नाश करनकी शक्ति प्रगट होजानेसे अयोगकेवलीकें संपूर्ण संसा-रके दुःखका नाश करनेवाला साक्षात मोक्षका कारण संपूर्ण यथाख्यातचरित्ररूप ज्ञान दर्शनकी परिपूर्णता होजाती है। वह भगवान अयोगकेवली उस समय ध्यानरूपी अग्निसे जला दिया है संपूर्ण कर्ममलकलंकका बंध जहांपर जैसे किट्टिकालिमा रहित जातिवान सुवर्ण निर्मल होजाता है उसी तरह शुद्धरूपको पाकर मोक्षको प्राप्त होजाता है।

यहां इतना विशेष जानना चाहिये कि यथाख्यात चारित्र तो पहिले बारहवें गुणस्थानमेंही होचुका है परन्तु चारि-त्रकी पूर्णता जो चौरासी लाख उत्तरगुण और अठारह हजार शील हैं उनकी परिपूर्णता चौदहवें गुणस्थानके अंतमेंही होती है इसीलिये यथाख्यातचारित्रकी पूर्णता यहां लिखी गई

है। यथाख्यात चारित्ररूप ज्ञानदर्शनहीका परिणमन हुआ है। यदि पहिलेही रत्नत्रय पूर्ण होगया होता तो मोक्षभी उसी समय होजाना चाहिये? इसलिये जहां रत्नत्रयकी पूर्णता भई उसीसमय मोक्ष होजाता है ऐसा जानना चाहिये। इस प्रकार चारों ध्यानोंके सोलह भेदोंका वर्णन सुनाया गया। अब आपको प्रकरणमें लाकर फिर बतलाया जाता है कि जिस ध्यानके करनेके लिये मनके स्थिर रहनेकी जरूरत है उस मनकी चंचलता दूर करनेक लिये प्राणायाम [धारणा-धेय] का अवलबन ना चाहिये। उसका ज्ञानार्णवमें इस प्रकार वर्णन किया है सोही बतलाया जाता है—

प्राणायाम-पवनके साधनेकी क्रिया है। जो शरीरमें तालु, मुख, नासिकाके द्वारा श्वासोच्छ्वास आता जाता है वह हवा सदा चलतीही रहती है। इसीके निमित्तसे यह मन भी हमेशा चंचल बना रहता है। इसलिये जिससे ये मन चंचल बना रहता है उस हवाके रोकनेका उपाय करना चाहिये। यदि हवा रुक जायगीतो मनकी चंचलताभी नहीं रहेगी इससे उस हवाको वशमें करनेके उपायकोही प्राणा-याम कहा है। उसकी विधि निम्नलिखित है—

पवनके स्तंभनका उपाय—

त्रिधा लक्षणभेदेन संस्मृतः पूर्वसूरिभिः।
पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम्॥

अर्थ—पूर्वाचार्योंने पवनके व्यापारक स्तंभन रूप प्राणायामको लक्षण भेदसे तीन प्रकारका कहा है [१] पूरक २ कुम्भक ३ रेचक। अब इनका पृथक् २ लक्षण कहा जाता है—

पूरकका लक्षण—

द्वादशान्तात्समाकृष्य यः समीरः प्रपूर्यते।
स पूरक इति ज्ञेयो वायुर्विज्ञानकोविदैः॥

अर्थ—बारह अंगुल दूरसे खेंचकर तालुके छिद्रसे पवनको अपनी इच्छाके अनुसार अपने शरीरमें पूर्ण करै ऐसे पवनको पूरक कहते हैं।

कुंभकप्राणायामका लक्षण—

निरुणद्धि स्थरीकृत्य श्वसनं नाभिपंकजे।
कुंभवन्निर्भरः सोऽयं कुंम्भकः परिकीर्तितः॥

अर्थ—उस पूरक किये हुए पवनको स्थिर करके नाभि रूपी कमलमें जैसे घडेको भरता है उस तरह रोक लेवे, नाभिके सिवाय अन्य स्थानोंमें नहीं चलने देवे उसको कुम्भक कहते हैं।

रेचक प्राणायामका लक्षण—

निःसार्यतेऽतयत्नेन यत्कोष्टाच्छ्वसनं शनैः।
स रेचक इति प्राज्ञैः प्रणीतः पवनागमे॥

अर्थ—जो पवन कुम्भक किया हुआ है, अपने कोष्ठमें ठहरी हुई है उस पवनको अत्यंत प्रयत्नसे मद मंद बाहर

निकाले। ऐसी क्रियाको पवनभ्यासके शास्त्रके जानने वाले विद्वानोंने रेचक ऐसा नाम कहा है। नाभि स्कंधसे निकला हुआ तथा हृदय कमलमें से होकर तालुरंध्रमें विश्रांत हुआ जो पवन है उसे परमेश्वर जानो, क्योंकि यह पवनका स्वामी है।

इस प्रकारका पवन जो ईश्वर तालुरंध्रमें विश्रांत हुआ है अर्थात् ठहरा हुआ है उसका चार कहिये चलना याने भ्रमण करना और गति गमन) तथा आत्माकी [जीवकी] संस्था अर्थात् देहमें सदा रहना इसको जानकर कालका प्रमाण, आयु, बल, शुभ तथा अशुभ फलके उदयका विचार करे।

अत्राभ्यासप्रयत्नेन प्रास्ततन्द्रःप्रतिक्षणम्।
कुर्वन् योगी विजानाति यत्रनाथस्य चेष्टितम्॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए पवनके अभ्यासको निष्प्रमादी होकर बडे प्रयत्नस करता हुआ योगी जीवकी समस्त चेष्टाओंको जान लेता है।

विकल्पा न प्रसूयन्ते विषयाशा निवर्तते।
अन्तःस्फुरति विज्ञानं तत्र चित्ते स्थरीकृते॥

अर्थ—तालुरंध्रसे हृदय कमलकी कर्णिकामें पवनके साथ चित्तको स्थिर करने पर मनमें विकल्प नहीं उठते और विषयोंकी आशाभी नष्ट होजाती है। तथा अंतरंगमें विशेष ज्ञानका प्रकाश होजाता है। इस प्रकार पवनके साध-

सब मेने वशमें हो जाता है यही इसका फल है।

कुत्र श्वसनविश्रान्तःका नाड्या संक्रमःकथम्।

का मंडलगतिःकेय प्रवृत्तिरिति बुध्यते ॥

अर्थ-इस पवनके साधनेसे इस प्रकार जान लिया जाता है कि श्वासरूप पवनका कहां तो विश्राम है? कितनी नाडियां हैं? और वे कौन २ हैं? उन नाडियोंका पलटना किस प्रकार होता है? इसकी मंडलगति कौनसी है? इस की प्रवृत्ति कहां है? इस प्रकारके अनुभवसे जो प्राणायाम (पवनमंडल) का चतुष्टय है उसकाभी निश्चय होजाता है। आगे उस वायुमंडल चतुष्टयका स्वरूप कहते हैं-

घोणाविवरमध्यास्य स्थित पुरचतुष्टयम्।

पृथक्पवनसवीतं लक्ष्यलक्षभेदतः ॥१६।२९ज्ञाना०॥

नासिकाके छिद्रको आश्रित होकर मंडल चतुष्टय अर्थात् पृथ्वीमंडल, जलमंडल, अग्निमंडल और वायुमंडल लक्ष्य लक्षण के भेदसे चार प्रकार होकर भिन्न २ पवनसे वेष्ठित है।

यह मंडल चतुष्टय अचिंत्य हैं-चिंतवन में नहीं आता ऐसा दुर्लक्ष्य हैं। इस प्राणायाम के भारी अभ्याससे कोई प्रकार स्वसवेद्य (अपने अनुभव गोचर) हो जाता हैं।

तत्रादौ पार्थिवं ज्ञेयं वारुण तदनन्तरम्।

मरुत्पुर ततः स्फीतं पर्यन्ते वन्हिमंडलम् ॥

अर्थ—[illegible] चारोंमें से पहिला मडल पार्थिव मंडल जा[illegible] दूसरा वरुणमडल (जलमडल) जानना चाहिये । तीसरा वायुमडल और चौथा अग्निमंडल (तेजो· मंडल) जानना चाहिये । इस प्रकार इनका अनुभव जानना चाहिये । अब इन चारोंका पृथक् २ लक्षण कहा जाता है ।

पृथिवीमडलका स्वरूप

१. गलाये तपाये सुवर्णके समान पीली जिसकी प्रभा हो, वज्रके चिन्हसे चिन्हित हो, चौकोर हो, नासिकाके छिद्रसे भले प्रकार भरा गया हो, कछ उष्णता लिये आठ अगुल बाहर निकलता हो, स्वस्थ, चपलता रहित, मंद २ बहता इन्द्र जिसका स्वामी हो इस प्रकारके पवनको पृथिवीमडल जानना चाहिये ।

२. अर्ध चद्रमाके समान सफेद, स्फुरायमान अमृत रूप जलसे सींचा हुआ, शीघ्रतासे बहने वाला, कुछ निचाई लिये बहता हो, शीतल हो, उज्वल हो, दीप्ति रूप हो, बारह अगुल बाहर आता हो इस प्रकारके चिन्होंवाला वरुणमडल होता है ।

३. जो पवन सब तरफ बहता हो, विश्राम न लेकर सब तरफ बहताही रहे, तथा जो छह अगुल बाहर आवे, कृष्ण वर्ण हो, शीतभी हो, उष्णभी हो, इन चिन्होंसे पवन मंडल संबन्धी पवन पहिचाना जाता है ।

४. अग्निमंडल–अग्निके स्फुलिंगोंके समान पीवर्ण हो, रौद्र रूप हो, ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाला, ज्वालाके सैकडों फुलिंगे जिसमें से निकल रहे हों, त्रिकोणाकार, स्वस्तिक चिन्होंसे चिन्हित अग्निमंडल होता है।

तथा जो ऊगते हुए सूर्यकी दीप्तिके समान रक्तवर्ण, जो ऊंचा चलता हो, आवर्तों [चक्रों] सरीखा फिरता हुआ जो चलता रहता हो, चार अंगुल बाहर आवे, जो अति उष्ण हो ऐसे मंडलको अग्निमंडल कहते हैं।

इन मंडलोंके शुभाशुभ कार्य कहते हैं।

स्तंभादिके महेन्द्रो वारुणः शस्तेषु सर्वकार्येषु।
चलमलिनेषु च वायुर्वश्यादौ वन्हिरुद्देशः॥

अर्थ– स्तंभन आदि कार्य करनेको पृथ्वीमंडल शुभ है, जलमंडलका पवन सब कार्योंमें शुभ है। पवनमंडल का पवन जल और मलिन कार्यमें शुभ है, वश्यकरणादि कार्यमें अग्निमंडल का पवन श्रेष्ठ है।

अब इन चारों मंडलोंके पवनका और खुलाशा करते हैं—

महेंद्रपवन (पृथ्वीमंडलका पवन, छत्र, गज, तुरंग, चामर, स्त्री, राज्यादिक संपूर्ण कल्याणोंको कहता है।

वरुण पवन जीवकी विद्यावीर्यादि विभूति सहित तथा पुत्र स्त्री आदिमें जो सार वस्तु है उसको जोडता है। अग्नि मंडलका पवन दाहस्वभाव रूप है। यह जीवोंको भय,

शोक, दुःख, पीडा तथा विघ्न समूहकी परंपरा और विनाशादि कार्योंको प्रगट करता है।

पवनमंडलके पवनके बहने पर जोसेवा कृषि आदिक समस्त कार्य सिद्ध होते हैं वे नाशको प्राप्त होजाते हैं। मृत्यु, भय कलह, वैर तथा त्रासादिकको प्राप्त करा देता है।

इन पवनोंके प्रवेश तथा निःसरणके विषयमें कहते हैं।

सव प्रवेशकाले कथयंति मनोगतं फलं पुंसाम्।
अहितमतिदुःखनिचितं त एव निःसरणवेलायाम्॥

अर्थ-ये चारोंही मंडल प्रवेशकालमें, नासिकासे बाहर आकर उल्टे प्रवेश करते हैं तब पुरुषोंके मनोगत फलको कहते हैं उससे मनमें विचार किया हुआ कार्य सिद्ध हो जाता है। परतु यही चारों पवन निकलनेके समय अतिशय दुःखसे भरे हुए अहितको प्रगट करते हैं। और–

सर्वेपि प्रविशंतो रविशशिमार्गेण वायवः सततम्।
विदधति परां सुखास्थां निर्गच्छन्तो विपर्यस्ताम्॥

अर्थ- ये चारोंही प्रकारके पवन सूर्य और चंद्रमाके मार्गसे दाहिने और बायें निरंतर प्रवेश करते हुए उत्कृष्ट सुखकी अवस्थाको करते हैं। और निकलते समय दुःख-अवस्थाको प्रगट करते हैं।

वामेन प्रविशन्तो वारुणमहेन्द्रौ समस्तसिद्धिकरौ।
इतरेण निःसरन्तो हुतभुक्पवनौ विनाशाय॥

अर्थ—वरुण और महेन्द्र पवन बाईं तरफसे प्रवेश करते हैं तो सब कार्योंको सिद्ध करते हैं। तथा अग्निमंडल और पवनमंडलके पवन दाहिनी तरफसे निकलते हैं सो विनाशकारी होते हैं।

वामायां विचरन्तौ दहनसमीरौ तु मध्यमौ कथितौ
वरुणेन्द्राविरतस्यां तथाविधावेव निर्दिष्टौ ॥ ३७।२९॥

अर्थ—अग्निमंडल तथा वायुमंडलका पवन बाईं तरफ से बहता हुवा मध्यमफलको कहता है, और वरुण तथा महेन्द्रमंडलके पवन दाहिनी तरफसे यदि बहते हैं तो मध्यम फलको कहते हैं।

अथ मंडलेषु वायोः प्रवेशनिःसरणकालमवगम्य !
उपदिशति भुवनवस्तुषु विचेष्टितं सर्वथा सर्वम् ॥

अर्थ—चारों मंडलोंमें पवनके प्रवेश और निःसरणका निश्चय करके ध्यानी पुरुष जगतभरमें जो पदार्थ हैं उन सब की सब प्रकारकी चेष्टाओंका उपदेश कर देता है।

पवनकी थोडी और विशेष विधिका उपदेश—

उदये वामा शस्ता सितपक्षे दक्षिणा पुनः कृष्णे ।
त्रीणि त्रीणि दिनानि तु शशिसूर्यस्योदयः श्लाघ्यः ॥

अर्थ—शुक्लपक्षमें सूर्योदयके समय नाडी बाईं तरफ बहती हुई प्रशस्त है। कृष्णपक्षमें उदयकालमें दहनी तरफ बहती हुई नाडी श्रेष्ठ है। इस प्रकार सूर्य और चन्द्रमाका

तीन तीन दिनका उदय प्रशंनीय माना गया है।

भावार्थ-शुक्लपक्षके प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीयाके दिन प्रातःकालही वाम स्वर अच्छा है फिर तीन दिन दाहिना स्वर अच्छा है, फिर तीन दिन वायां, इसी प्रकार पूर्णिमा पर्यंत स्वरोंका तीन तीन दिनं चलना शुभ है। कृष्णपक्षमें प्रतिपदा, द्वितीया तृतीयाके दिन दाहिना स्वर चलना श्रेष्ठ है, फिर तीन दिन वांयां स्वर, फिर तीन दिन दाहिना स्वर, इस तरह अमावस तक तीन तीन दिन तक स्वरोंका चलना श्रेष्ठ माना गया है। इस क्रमके विरुद्ध स्वरोंका चलना अशुभ है।

आगे और भेदाभेद बतलाते हैं-

इडा वांयां अंग है पिंगल दाहिनी जान।
दोऊ स्वर मिलकर चल सुखमण नाम बखान॥

अर्थ--इडा नामकी नाडीको चन्द्र नाडी भी कहते हैं। पिंगला नामकी नाडीको सूर्य नाडी कहते हैं। तथा दाहिनी और वांई ओरके जब दोनों स्वर मिश्र रूपसे चलते हैं तब उसको सुखमणा कहते हैं।

नाकके दोनों श्वरोंसे पवन खेचने वाले द्वारको नाडी कहते हैं। उनके स्वरूपका नकशा इस प्रकार है।

नाडी

सूर्यनाडी		चन्द्रनाडी
ईडा	सुखमना	पिंगला
वांयाअंग	मिश्र	दाहिनाअंग
शुक्लपक्ष	सदाही	कृष्णपक्ष
प्रतिपदा से		प्रतिपदा से
उदय अस्त	निश्चय नहीं	उदय अस्त
		दा. स्वरसे. बायें स्वरसे

उदयश्चन्द्रेण हितः सूर्येणास्तं प्रशस्यते वायोः ।
रविणोदये तु शशिना शिवमस्तमनं सदा नृणाम् ॥

अर्थ—पवनका उदय चन्द्रमाके बायें स्वरसे सद शुभ है। और अस्त सूर्य स्वरसे (दहिने स्वरसे) प्रशस्त कहा गया है। और सूर्य-दाहिने स्वरसे उदय हो तो शशिक (बायें) स्वरसे अस्त होना जीवोंको सदा कल्याणकारी है।

अब शुभ अशुभ सूचक विचार कहते हैं—

व्यस्तः प्रथमे दिवसे चित्तोद्वेगाय जायते पवनः ।
धनहानिकृद्द्वितीये प्रवासदः स्यात्तृतीयेऽन्हि ॥
इष्टार्थनाशविभ्रमस्वपदभ्रंशस्तथा महायुद्धम् ।

दुःखं च पञ्च दिवसैः क्रमशः संजायते त्वपरैः ॥

अर्थ—पवन प्रथम दिवसमें व्यस्त (विपरीत) वहै तो चित्तको उद्वेग होता है। यदि दूसरे दिन विपरीत वहै तो धनहानिकी सूचना करता है। तीसरे दिन विपरीत चले तो परदेश गमन कराता है। यदि पांच दिन तक विपरीत चलता रहे तो क्रमसे १ इष्टप्रयोजन का नाश २ विभ्रम ३ अपने पदसे भ्रष्ट होना ४ महायुद्ध और ५ दुख इन पांच प्रकारके फलोंको देता है। इसी प्रकार आगेके पांच २ दिनोंके फलको विपरीत अर्थात् अशुभ जानना चाहिये।

वामा सुधामयी ज्ञेया हिता शश्वच्छरीरिणाम्।
सहत्री दक्षिणा नाडी समस्तानिष्टसूचिका॥

अर्थ–जीवोंको बांई नाडी अमृतमयी सदा हितकारी जाननी चाहिये। बाई नाडी वहती हुई जीवोंके समस्त शरीरको अमृतके समान तृप्त करती है। दाहिनी (सूर्यनाड़ी) संपूर्ण अहितको कहने वाली है, तथा संसारको देने वाली है। दाहिनी नाडी निरन्तर वहती हुई शरीरको क्षीण करती है।

स्मरगरलमनोविजयं समस्तरोगक्षयं वपुःस्थैर्यम्।
पवनप्रचारचतुरः करोति योगी न संदेहः॥ १०१।२९।

अर्थ—पवनके प्रचार करनेमें चतुर पुरुष विषययुक्त मनको जीतता है। अर्थात् ऐसे पुरुषकी कामवासना नष्ट हो

जाती है। और संपूर्ण रोगोंका क्षय करके शरीरमें दृढता करता है।

जन्मशतजनितमुग्रं प्राणायामाद्विलीयते पापम्।
नाडीयुगलस्यान्ते यतेर्जिताक्षस्य वीरस्य॥

अर्थ—इस पवनके साधनरूप प्राणायामसे जीतीं हैं इन्द्रियां जिसने ऐसे धीर वीर यतिके सैकडों जन्मोंमें संचित किये हुए तीव्र पाप दो घडीमें नष्ट होजाते हैं।

आगे प्राणायामसे हो, इसका खुलाशा करते हैं—

यहांपर ऐसा आशय जानना चाहिये कि प्राणायामसे जगतके (लोकके) शुभ अशुभ तथा भूत भविष्यत और वर्तमान कालके तमाम व्यवहार जान जाते हैं। तथा परशरीरादिकमें प्रवेश करनेकी योग्यता (सामर्थ्य) हो जाती है। सो ये सब तो लौकिक प्रयोजन हैं। इनमें कुछभी परमार्थ नहीं है। इनके सिवाय मनको विषयभूत करनेवाली विषय वासनाएंभी नष्ट होजाती हैं। तथा अपने स्वरूपमें लय होनेसे अनेक जन्ममें बांधे हुए कर्मोंको नाश करके मुक्ति प्राप्त करना पारमार्थिक फल है। इसीसे योगीश्वरोंको करना उचित है। तथा इस पवनके अभ्याससे पृथिवी आदि मंडलोंका [तत्वोंका] नासिकाके द्वारा जो पवन निकले उसके द्वारा निश्चय करना कहा। उन पृथिवी आदिक तत्वोंका वर्णन आकार आदिका स्वरूप कहा सो कल्पना पात्र है।

निमित्तज्ञानके शास्त्रोंमें इनका विशेष वर्णन है कि शरीर पृथिवी, जल, अग्नि और वायुमयी हैं। इसमें पवन सदा-विचारता रहता है। इन्हीं पृथिवी आदि तत्वोंकी कल्पना करके निमित्तज्ञान सिद्ध किया जाता है।

आगे पूरक, कुम्भक, रेचक करनके अभ्याससे इस पवनको अपने आधीन करके पीछे इसको नाडीकी शुद्धताके अभ्याससे नासिकास बाहर निकाले वा प्रवेश करावे। तब नाडीके शुद्ध होनेपर फिर पवन बाहर निकाले, उसकी रीतिका पृथिवी आदि मंडलके स्वरूपका जैसा वर्णन है वैसाही पहिचानें, उसके निमित्तसे जगत (लोकों) को भूत भविष्यत कालका ज्ञान होता है, और शुभाशुभ जाना जात । उससे लौकिक प्रयोजन इतनाही है कि ऐसा जीव अपने आप जानकारी करै या लोक प्रश्न करै तो उनको उत्तर रूपमें कहै।

प्राणायामकी काठिनताको कहते हैं--

जलबिंदुकुशाग्रेण मासे मासे तु यः पिबेत्।
संवत्सरशतं प्राणायामश्च तत्समः स्मृतः॥ ज्ञानार्णव॥

अर्थ—जो कोई पुरुष कुशके अग्रभागसे जलकी एक बूंद महीने २ अन्तराल देकर सौ वर्ष तक पीता है, दूसरा किसी प्रकारके आहारादिकको नहीं करता है ऐसा कठिन तप करनें वाला व्यक्ति पवनका साधन कर सकता है पर ऐसें

कठिन तपसे भी यह प्राणायाम महान कठिन है परन्तु महात्मा योगी पुरुष ध्यानके प्रभावसे इसकी साधना सुगम रीतिसे कर लेता है, ऐसा योगी धन्य है।

आगे इस भावका सारांश इस प्रकार दिया है कि—

ज्ञानार्णव अध्याय ४२ में

आत्मार्थं श्रय मुञ्च मोहगहनं मित्रं विवेकं कुरु।
वैराग्यं भज भावयस्व नियतं भेदं शरीरात्मनोः।
धर्मध्यानसुधासमुद्रकुहरे कृत्वावगाहनपरम्।
पश्यानन्तसुखस्वभावकलितं मुक्तेर्मुखाम्भोरुहम्॥

अर्थ—हे आत्मन्! तूं अपने प्रयोजनका आश्रय कर अर्थात् संसार के तमाम पदार्थोंसे संबन्ध छोडकर अपने आपसे ही प्रयोजन रख, मोहरूपी जंगलका त्याग कर, विवेक-भेदज्ञानको ही अपना बना, संसार, देह और भोगोंसे अरुचि धारण कर, अर्थात इनसे वैराग्य सेवन कर, परमार्थ दृष्टिसे शरीर और आत्माके भेदका निश्चय कर अर्थात ऐसा चिंतवन कर कि शरीर और आत्मा भिन्न २ हैं। धर्मध्यान रूपी अमृतकी कुहर (मध्य) में अच्छी तरह अवगाहन (स्नान) करके अनंत सुख स्वभाव सहित मुक्तिके मुखकमलको देख।

भावार्थ—हे आत्मन् तुझे सद्गुरु इस तरह समझा रहे हैं जैसे मानों किसी बच्चेको समझा रहे हों, लेकिन तूं तो आंखोसे अंधे पुरुषकी तरह अपने उद्धारका मार्ग ही

नहीं सोचता, यदि सोचने लग जाओ तो तुम्हारा तरण शीघ्र हो जावे। ऊपर- आचार्यने जिन २ चीजोंके त्याग और ग्रहण करनेका उपदेश दिया है उसपर यदि दृढ हो जावोगे तो सदाके लिये जन्म मरणके दुःखसे छूट जाओगे। सद्-गुरुओंके उपदेशके सुननेका यही फल हो सकता है। अये भव्यो ! मनुष्य भवको पाकर तुमने अपना कल्याण न किया तो फिर अनंत भव धारण करने पडेंगे। देखो तुम्हारे आत्माके उद्धार होनेके लिये एक कवि क्या कहता है—

नहि दुःखसे घबराय है सुखकी जिसे नहिं चाह है।
सन्मार्गमें विचरे सदा चलता न खोटी राह है॥
पावन परम अन्तः करण है गंभीर धीर विरक्त है।
शम दम क्षमासे युक्त है सो बिना इच्छा मुक्त है॥

अर्थात्—जो सुखकी परवा नहीं करता है वह दुखसे कभी नहीं घबराता है, वह तो कुमार्गको छोडकर सन्मार्ग ही विचरण करता है। उसका अन्तःकरण तो अत्यंत पवित्र है, वह धीर है, गंभीर है और विरक्त है। कषाय और इन्द्रियोंका जीतनेवाला है। इसलिये ऐसा व्यक्ति तो बिना इच्छाके ही मुक्त है। ऐसे विचार उस व्यक्तिके होते हैं जो अपने कर्तव्य पर सदा दृढ रहता है। इसी बातको आगेके छंद में कवि वर्णन करता है।

कर्तव्य था सो कर चुका, करना न कुछ भी शेष है।
था प्राप्त करना पा लिया, पाना न अब कुछ लेश है।
जो जानना था जानकर स्वस्वरूप में संयुक्त है।
जीया नहीं संदेह सो इच्छा बिना ही मुक्त है॥

अर्थात्—जिसने कषाय और इन्द्रियोंको वश कर लिया, क्षमा रूप जो हो चुका, जिसने इच्छाओंको वशमें कर लिया वह व्यक्ति तो मुक्त है, उसको अब कुछ भी नहीं करना है, क्योंकि उसे तो जो कुछ करना था वह (मुक्त जीव) कर चुका उसे अब कुछ भी करना शेष नहीं है और न उसे कुछ प्राप्त करना शेष है, जो कुछ प्राप्त करना चाहिए था उसने सब कुछ पा लिया, तीन लोकमें जो कुछ जानने लायक था वह सब उसने जान लिया अब कुछ भी जानने को शेष नहीं है। उसने तो हर तरहकी इच्छाओंको वशमें कर लिया इसलिए वह तो बिना इच्छा ही मुक्त है। इसलिए हे आत्मन्! जब तुम इच्छा रहित होजाते हो तो हमेशाको सुखी ही होजाते हो। देखो संसारमें जितना दुःख है सब इच्छाओंके पीछे है। इसी बातको एक दृष्टान्त द्वारा बतलाया जाता है सो ध्यान देकर सुनो—

एक आशावान व्यक्ति आशाके वशीभूत होकर मोह से ऐसा विचार करता है कि ये मकान मेरा है, उसकी

ममत्वकी वासना मकानके ईंट चूना आदिमें लग रही है। बादमें उसने एक सेठको वह मकान बेच दिया और उससे हुण्डी ले ली। उसके हाथ तो हुण्डी लग गई सो प्रसन्न होगया पर थोडे समय बाद उस मकानमें आग लग गई। इस बात को सुनकर वह आशावान व्यक्ति विचार करता है कि वहुत ही अच्छा हुआ कि मेरे हाथ हुण्डी आगई, अन्यथा मेरा बडा नुकसान होता! अर्थात् उस व्यक्तिका ममत्व मकानसे तो निकल गया और हुण्डीमें लग गया, बादमें हुण्डीको बेचकर रुपयोंकी थैली उसने ले ली, अब हुण्डीका कागज भले ही फट जावे या जल जावे उसे उससे कोई सरोकार नहीं रहा, उसका ममत्व हुण्डीसे निकल कर रुपयोंमें लग गया, क्योंकि अब तो केवल थैलीकी ही सम्हाल होती है। बादमें वे रुपया किसी सेठकी दूकान पर जमा कर दिये अब भले ही वे रुपया चोरीमें चले जावें या राख होजावें उसको इस बातकी तब तक कोई परवाह नहीं है जब तक वह फर्म ठीक हालतमें बना हुवा है, चिन्ता तो केवल इतनी ही बातकी रहती है कि कहीं दिवाला न निकाल दे। आशा· वान ममत्वी जीवकी इस प्रकारसे पर पदार्थोंमें ममता लगी रहती है, जिससे वह हमेशा चिन्ताओंमें ग्रस्त रहता है। आशा ही जीवको महा दुखदायी है! जब तक परपदार्थोंमें ममता भाव रहता है तब तक इस आत्माको सुखका अनुभव

नहीं हो सकता है। इसलिए हे आत्मन्! यदि तूं सच्चे सुखका अभिलाषी है तो अपने रूपकी पहिचान कर और अपने आत्मासे भिन्न जितने पदार्थ हैं उनको 'ये परपदार्थ हैं' ऐसा निश्चय कर, उनमें ममत्वका त्याग कर, तुझे तो ऐसा विचार करना चाहिए कि—

राजा हूं तिहुं लोकका चेतन मेरा नाम।
ममताके वशमें पडा नहिं सूझे आराम॥

इसलिए इस ममता रूपी पिशाचिनीका अपने आत्माके रूपका विचार कर दूरसे ही त्याग कर और ऐसा त्याग कर कि फिर से ये तुम्हारे पास न आ सके। देखो तुम्हारा रूप आचार्य महाराजने क्या बतलाया है--

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यंतविमुक्तमेकम्।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति

अर्थ—शुद्ध नय-पर द्रव्य-पर द्रव्यके भाव तथा पर द्रव्यके निमित्तसे होनेवाले विभाव भावोंसे भिन्न, सम्पूर्ण लोकालोकके जानने वाले स्वभावको प्रगट करने वाला, आदि और अन्तसे रहित, अर्थात् जो कहींसे उत्पन्न हुवा नहीं तथा जिसका कभी नाश नहीं ऐसे पारिणामिक भावको प्रगट करने वाला, सम्पूर्ण भेदभावोंसे रहित, एकाकार- जिसमें सम्पूर्ण संकल्प विकल्प भाव नष्ट होगये हैं ऐसे आत्माके स्वभावको प्रगट करता है। यहां संकल्प विकल्पका ऐसा

भाव जानना चाहिए कि-द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि पुद्गल द्रव्योंमें आपा मानना सो तो संकल्प है और ज्ञेयोंके भेदसे ज्ञानमें भेद करना सो विकल्प है।

इस प्रकार नाटक समयसारमें स्वामी अमृतचन्द्र महाराजने आत्माका स्वभाव पर पदार्थोंसे सदा भिन्न है ऐसा बतलाया है। ख्याल करो अपने आत्माके समान ही दूसरे जीवोंकी आत्मा है, परन्तु उनसे भी इस आत्माका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव बिलकुल भिन्न है। फिर इन जड स्वरूप, चैतन्य गुणसे रहित ऐसे माया-ममता-ईर्षा-द्वेष-काम-क्रोध-मद-लोभ जो मिथ्यात्व प्रकृतिके उदय रूप हैं उन रूप कैसे हो सकता है? अपने आत्माको इनसे तो सदा भिन्न ही जानना चाहिए।

इसलिए हे भाई भव्य! तेरा चिदानन्द स्वरूप आत्मा जो प्रत्यक्ष परमात्मा समान है, उसकी अच्छी तरह पहिचान करके उसीमें स्थिर हो, जिससे तेरी ये संसार रूपी फांसी जल्दीसे कट जावे। आश्चर्य है कि तेरा आत्मा तो इन तमाम कर्मोंसे भिन्न है लेकिन मोह कर्मके माहात्म्यसे तुझे भिन्न प्रतीत नहीं होरहा है। अब तेरे पुण्य कर्मके उदयसे तुझे श्री गुरुके उपदेशका समागम मिला है, जिसको तूं ध्यानसे सुनकर अपने कर्तव्यका मनन कर यदि एक छह माह भी तूने ऐसा अभ्यास कर लिया तो निश्चयसे विश्वास

कर तेरा बेडा शीघ्र पार लग जावेगा।

संवर भावनामें संवर होनेके कारणोंका निर्देश करते हुए आचार्य महाराजने गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा इनका वर्णन किया, अब परीषहजयका वर्णन करते हैं—

क्षुधा (भूख) तृषा (प्यास) आदि वेदनाओंके तीव्र उदय होने पर भी सुख, दुख, जीवन, मरण, लाभ, अलाभ, निंदा, प्रशंसा आदिमें समानता रूप जो नवीन शुभाशुभ कर्मोंको रोकनेमें और पुराने शुभाशुभ कर्मोंके निर्जरण करने में समर्थ ऐसा परम सामायिक है उस सामायिकके द्वारा निज परमात्माकी भावनासे उत्पन्न विकार रहित नित्यानंद रूप लक्षणका धारक जो सुखामृत है उसके ज्ञानसे चलायमान नहीं होना सो परीषहजय है। परीषह तो कर्मोदय जन्य शुभ कार्यों में उपस्थित होने वाली बाधाएं हैं, अच्छे २ कामोंमें भी बाधाएं खड़ी होजाती हैं। बडे २ पुण्यात्माओंको भी बाधाओंने सताया है उन्हीं बाधाओंका नाम परीषह है।

ऐसी परीषह बाईस प्रकारकी होती हैं १. क्षुधा २. तृषा (पिपासा) ३. शीत ४. उष्ण ५. दंशमशक ६. नाग्न्य ७. अरति ८. स्त्री ९. चर्या १०. निषद्या ११. शय्या १२. आक्रोश १३. बध १४. याचना १५. अलाभ १६. रोग १७. तृणस्पर्श १८. मल १९. सत्कार-पुरस्कार २०. प्रज्ञा २१. अज्ञान २२. अदर्शन। मोक्ष चाहने वालोंको इनको

सहन करना चाहिये। ये परीषह कर्मके उदय आने पर उपस्थित होती हैं। आचार्योंने बतलाया है कि—

"मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः" अर्थात् आते हुए कर्मोंके रोध करनेके लिये और पूर्व संचित कर्मोंकी निर्जरा करनेके लिये कर्मोंके उदयसे आने वाली बाईस तरहकी बाधाओंको मोक्षके इच्छुक मुनिको सहन करना चाहिये। किस तरह सहन करना चाहिये इस बातको कहते हैं—

मुनि भिक्षावृत्तिसे परके घर आहार लेते हैं इसीसे इनका नाम भिक्षु है। भिक्षु निदोष आहार लेते हैं, दोष सहित, जैसा तैसा आहार नहीं लेते हैं। यदि निर्दोष आहारका अलाभ हो तथा अंतरायादिके कारणोंसे थोड़ा मिले तो नहीं मिटी है क्षुधाकी वेदना जिनकी, अकाल और अयोग्य क्षेत्रमें आहार लेनेकी नहीं है इच्छा जिनकी (ऐसा नहीं है कि जिस समय भूख लगे उसी समय आहार लेनेको दौड पड़ें, तथा अयोग्य क्षेत्रमें ले लेवें) ऐसे साधु आवश्यक क्रियाको कुछ भी छोडते नहीं हैं, भूखके कारण चित्त नहीं लगे तो सामायिकादि क्रियाएं जैसें तैसें करते नहीं, मुनि तो स्वाध्याय और ध्यान करनेमें ही तत्पर रहते हैं। बहुत बार आप खुद करे तथा प्रायश्चित आदिके निमित्तसे करने पडे ऐसे अनशन, अवमौदर्य नीरसआहार, तप इनसे युक्त, तथा

इन तपोंके निमित्तसे क्षुधा तृषाकी ऐसी दाह उत्पन्न होती है जैसे ताते भाड पर पडी जलकी बूंद तत्काल सूख जाती है। उठी है क्षुधावेदना जिनको तो भी भिक्षाका अलाभ होने पर उस अलाभको लाभ होनेसे भी अधिक मानते है कि हमारे यह अनशन तप हुआ सो बडा आनंद हुआ है। वे उस समय क्षुधाका चिंतवन नहीं करते हैं। धन्य हैं वे मुनि जिनके ऐसे उज्ज्वल परिणाम हैं। ऐसे मुनिका क्षुधाका जीतना सत्य है।। अत्यत भूख रूप अग्निके जाज्वल्यमान होने पर उसको धैर्य रूप जलसे शांत करना सो क्षुधा परीषहजय है ये क्षुधापरीषहजय उस साधुके हो सकती है जिस का वस्त्रादिसे शरीरका संस्कार नहीं है, शरीरमात्र उपकरणसे जो संतुष्ट हैं संयमके नाश करने वाले कारणोंको जो दूरसे त्याग करते हैं, जिनका भोजन कृत कारित अनुमत संकल्पित उद्दिष्टादिक दोषोंसे रहित होता है, जो योग्य देश कालमें प्रवृत्ति करते हैं, ऐसे त्यागियों द्वारा अनेक उपवास करनेसे, मार्ग चलनेसे, रोगके उत्पन्न होजानेसे, तपके बढ जानेसे, स्वाध्याय करनेसे उत्पन्न परिश्रमसे, वेलाके उल्लंघन करनेसे, असातावेदनीय की उदीरणासे, नानाप्रकारके आहार रूप ईंधनके अभावसे, पवनसे प्रज्वालित अग्निकी शिखाकी तरह शरीर, इन्द्रिय और हृदयको क्षुब्ध करनेवाली जठराग्निसे इत्यादि कारणोंसे क्षुधा (भूख) की वेदना उत्पन्न हो

जावे तो उसका प्रतीकार अकालमें संयमकी विरोधी द्रव्योंसे आप खुद नहीं करे, दूसरोंके द्वारा की हुईका सेवन नहीं करे, ऐसा विषादभी नहीं करे, कि ये वेदना तो बडी कठिन है, काल भारी है, दिन बडे २ होते हैं, कैसे पूर्ण होंगे। जिनके हाड चाम नख केश मात्र देह रह गया हो, तो भी अपनी आवश्यक क्रियाओं के करनेमें निरन्तर उद्योगी हैं, जो पराधीन बंदीगृहादिमें पडे मनुष्योंकी तथा निर्धन, रोगी मनुष्य और पिंजडोंमें पडे हुए तिर्यंचोंकी क्षुधाकी वेदनाको देखकर संयम रूप घडेमें धारण किये हुए धैर्य रूप जलसे क्षुधा रूप अग्निको शांत करते हैं उनके ही क्षुधापरिषहजय होती है।

वीतरागी मुनीके स्नान करनेका, जलमें गोता मारनेका अंगपर जल सींचनेका तो यावज्जीवन त्याग रहता है, पक्षियोंकी तरह एक स्थानमें उनका रहना नहीं है, दूसरेके घर अत्यंत खाटा, सचिक्कण, रूखा, प्रकृति विरुद्ध आहार ग्रहण करते हैं, ग्रीष्म ऋतुमें भारी गमा पडनेसे, पित्तज्वर हो जानेसे, अनशनादि तप करनेसे उदीर्णाको प्राप्त हुई शरीर और इन्द्रियोंको मथन करने वाली प्याससे, वेदना होने परभी प्रतिकार करनेमें अनादर करनेवाले, ग्रीष्म की तीक्ष्ण सूर्यकी किरणोंसे तपी हुई वनभूमिमें रहनेवाले, निकटमें मौजूद स्वच्छ जलसे भरे हुए नदी तालावादिके

जलमें मनको नहीं चलानेवाले, जलकायके जीवोंकी बाधाके परित्याग करनेकी इच्छासे जलकी चाह रहित, जैसे जलके संबंधसे रहित बेल कुम्हला जाती है उसी तरह जलके बिना शरीरलताकी शिथिलताका नहीं अनुभव करनेवाले, तपके निर्वाह करनेमें तत्पर, भिक्षाके समयमें भी अपनी चेष्टा आकार समस्यादिसे अपने पीने योग्यभी जलादिके प्रति प्रेरणा या याचना नहीं करनेवाले, किंतु अपने धैर्य रूपी घडेमें भरे हुए शीतल सुगंधित ध्यानरूपी जलसे प्यासरूपी अग्निको बुझानेवाले मुनिका तृषा वेदनीयकी उदारणाके कारणोंके होते हुएभी तृषा (प्यास) के आधीन नहीं हो जाना किंतु उस वेदनाको संतोषसे सहन करते हुए अपने कर्तव्यमें तत्पर रहना सो तृषापरीषहजय है ॥२॥

वस्त्रोंका है त्याग जिनके, पक्षीकी तरह एक स्थानमें रहनेका जिनके निश्चय नहीं, शरीर मात्र आश्रयके रखने वाले, संपूर्ण ऋतुओंमें वृक्षोंके नीचे या चौराहेमें या गुफादिकोंमें नदी- तालावके तटमें रात्रिको ध्यानादि सहिता बितानेकी है प्रतिज्ञा जिनकी, शिशिर ऋतुमें पडते हुए ओस-बरफ-पाला और अत्यंत ठंडी वायुके घातसे घात किया गया है शरीर जिनका तो भी शीतको दूर करनेवाले अग्नि इत्यादिक चिन्तवनसे रहित, ऐसा विचार करने वाले कि हे आत्मन् नरकोंमें दुःसह शीतवेदना असंख्यात् समयतक

अनंतो बार कर्मके वश होकर भोगी है उसके आगे ये वेदना तो कुछभी नहीं है, ऐसा चिंतवन करते हुए परमार्थ बिगडनेके भयसे शीत दूर करनेके इलाजकी इच्छा नहीं करना, शीतके दूर करनेमें समर्थ ऐसे विद्या-मंत्र-औषधि-पत्र वल्कल-त्वचा तृण आदिके संबंधमें कभीभी मनको नहीं चलाना, धैर्य रूपी गर्भगृहमें विवेक रूपी दीपकके उजेलेमें अपने स्वरूपको अवलोकन करते हुए हर्ष पूर्वक रात्रि व्यतीत करना, पूर्व समयमें भोगे जो श्रेष्ठ स्त्रियोंके नवीन यौवनसे पुष्ट कुच नितंब, भुजाओंके अंतरालमें निवारण किये हुए शीतका स्मरण नहीं करना, इस प्रकार शीतकी तीव्र वेदनाका स्मरण न करते हुए विषाद रहित संयममें तीव्र उत्साह सहित रहते हैं उनके शीतपरीषहजय होती है।

ग्रीष्मादि जनित दाहके इलाज की इच्छाके अभावमें चारित्रकी रक्षा करना सो उष्ण परीषहजय है। वह इसप्रकार कि-गर्मी ऋतुके सूर्यकी अति कठोर किरणोंसे संतापित है देह जिनकी, तृषाकी वेदनासे उत्पन्न तथा अनशन तपके द्वारा, पित्तके प्रकोपसे, घामसे, मार्गमें चलनेसे, उत्पन्न खेदसे उष्णतासे, पसेव शोष दाहसे, अत्यंत पीडित हैं तो भी जल-स्थानमें निवासको, जलमें डुबकीको, चंदन कपूर आदिके लेपको, जलका छिड़काव गीली भूमिका स्पर्श, नील कमल केला आदिके पत्तोंसे पवन जल चंदन चन्द्रमाकी किरण,

कमल वर्फ इत्यादिक पूर्वकालमें अनुभूत ठंडे द्रव्योंकी चाहनासे रहित है चित्त जिनका, वे मुनि ऐसा विचार करते हैं कि संसारमें बहुत वार अतितीव्र उष्णवेदना पराधीन होकर भोगी है अब तो म कर्मक्षयका कारण तप करनेमें उद्यमी हूं इसलिये संयममें विरोध करने वाली क्रियामें अनादरकर अपने चारित्रकी रक्षा करना ही उचित है ऐसे उत्तम विचारके धारक मुनिके उष्णपरीषहजय होती है।

त्याग किया है शरीरका आवरण जिन्होंने, कहीं भी नहीं निश्चित किया है स्थान जिन्होंने, जो दूसरोंके द्वारा बनाये हुए मठ, मकान, गुफादिकोंमें रात दिन निवास करते हैं। वहां पर डांस-मच्छर-पिस्सु-मक्षिका-जुवां-खटमल-कीडा विच्छु इत्यादिक तीव्र वेदनाको उत्पन्न करने वाले अनेक जीवोंके तीव्र डंकोंसे मर्मस्थानमें भक्षण करने पर भी अपने परिणामोंसे विषादको प्राप्त नहीं होते हैं, अपने पूर्वकृत कर्मोंके विपाकज फलका चिंतवन करते हैं, विद्या मंत्र औषधादिसे इलाज करनेकी इच्छा नहीं करते हैं। कर्म रूपी वैरीके नाश करनेके लिये उद्यम शील होकर संपूर्ण जीवों पर दया करनेमें उद्यमी होकर बसते हैं ऐसे मुनियोंके दंशमसकपरीषहजय होती है। ॥५॥

जैसा माताके गर्भसे जीव उत्पन्न होता है वैसा नग्न

रूप धारण करना सो नग्न परीषहजय कहलाती है। गुप्ति समितिके विरोधी परिग्रहके त्याग करनेसे इस नग्नतामें परिपूर्ण ब्रह्मचर्य निवास करता है। ये नग्नपनाही इच्छा रहित मोक्षका कारण रूप चारित्रका आधार है। ये नग्नपना किसी प्रकारके संस्कारसे नहीं होता है, यह तो स्वतःस्वभाव है, विकार रहित है, मिथ्यादृष्टि भी इससे वैर नहीं करते हैं। ये परम मंगल रूप है, ऐसे नग्नपनेको प्राप्त साधु स्त्रियोंके शरीरको महा अपवित्र और घृणितही देखता है और वैराग्योत्पादक भावनासे मनके विकारको रोकता है। ऊपर कही हुई शीत उष्ण आदिक संपूर्ण परीषहोंको सहता है। इसलिए नग्नपरीषहका जीतनाही परम कल्याण है। अन्य जितनेभी भेषी हैं वे मनके विकारके रोकनेमें अत्यंत असमर्थ हैं, क्योंकि वे इसीलिए तो लगोटी भोजपत्रादि आवरणोंको धारण करते हैं। परन्तु आत्माके सम्यग्ज्ञान स्वभावको नष्ट करनेवाले काम लोभादिकको नहीं रोकते हैं। इसलिए नग्नपनेके परीषहके विजयको धन्य दिगंबरही धारण करते हैं।

सच्चे दिगंबर मुनि संयममें अत्यंत रति धारण करते हैं इसलिये साधु अरतिको जीतते हैं। नीचे लिखे कारण अरति उत्पन्न होनेके हो सकते हैं-क्षुधा-तृषा-शीत-उष्णादिककी बाधा, संयमकी रक्षा, इन्द्रियोंका दुर्जयपना, व्रतोंके पालनेका भार, सर्वकाल अप्रमादीपन, अनेक देशोंको

अनेक भाषाओंको जानकारी न होना, कठोर चपल वनके प्राणियोंका संगम, अत्यंत भयंकर वनमें निवास, कठोर भूमिमें शय्या, आसनादिकका नियम, एकल विहारीपना इत्यादि कारणोंसे उत्पन्न दुखदायी अरतिको धैर्य विशेषसे निवारण करने वाले साधुजनका संयममें रतिकी भी भावनासे विषयोंके सुखका विषके आहारके सेवनकी तरह परिपाक कालमें कटुक चिंतवन करने वाले साधुके अरतिपरीषहजय होती है ।॥७॥

सुन्दर स्त्रियोंके रूपके देखने, स्पर्शादि करनेसे विमुख होना सो स्त्रीपरीषहजय है एकांत वन बगीचोंके महल भवनादि स्थानमें रहनेवाले साधुओंके राग द्वेष सहित यौवनका मद, रूपका मद, आभरण वस्त्रादिकका मद, उन्माद सहित मद्यपानादिसे उन्मत्त, हाव भाव विलास, विभ्रमोंसे युक्त, स्त्रियां आकर बाधा करें तो भी स्त्रियोंके नेत्र मुख भ्रकुटीका विकार आकार विहार विलास लीला कटाक्षोंका विक्षेप तथा सुकुमार सचिक्कण कोमल उन्नत पुष्ट ऐसे कुच और उज्वल कृश उदर तथा विस्तीर्ण जंघाएं एवं रूप गुण आभरण सुगंध वस्त्र माल्यादिके अवलोकन स्मरणसे अत्यंत दूरवर्ती है मन जिसका, तथा जो देखने स्पर्श करनेकी अभिलाषा रहित हैं। स्त्रियोंके कोमल, स्नेहके भरे, शृंगाररसको पुष्ट करने वाले गीत वादित्रोंके सुननेमें निरादर रूप प्रवृत्ति करने

वाले. संसार समुद्रमें गिरनेसे अत्यंत भयभीत ऐसे साधु-ओंके स्त्रीपरीषहजय होती है ॥८॥

मार्गमें चलनेके दोषोंके निग्रह करनेको चर्यापरीषहजय कहते हैं

बहुत समयतक गुरुओंके संघमें रहकर ब्रह्मचर्यका किया है अभ्यास जिनने, जाना है बंध मोक्षके पदार्थका स्वरूप जिनने, कषायोंके निग्रह करनेमें तत्पर तथा द्वादश भावनाओंके चिन्तवनमें लगाई है बुद्धि जिनने, नाना देशों के व्यवहार और भाषामें प्रवीण ऐसे साधुओंका गुरुओंकी आज्ञासे संयमियोंकी भक्ति करने के लिए ग्रामके निकट एक रात बसना तथा नगरके समीप पांच रात बसनेका वर्षा ऋतु बिना उत्कृष्ट नियम है, इसलिए वायुकी तरह निःसंग-पनेको प्राप्त. देशकालादिके प्रमाणसे मार्गमें गमन करते हुए भयानक बनके प्रदेशोंमें सिंहकी तरह निर्भयपनसे सहाय-ताकी इच्छा नहीं करते हुए कर्कश कंटक कंकरादिके भिदनेसे उत्पन्न हुआ है पैरोंमें दुःख जिनको, तो भी पूर्वमें अनुभव किये हुए यान वाहनादिके ऊपर चढकर गमनादि को नहीं स्मरण करनेवाले मुनिके गमन जनित दोषोंके परि-हारसे चर्यापरीषहजय होती है ॥९॥

स्वयं संकल्प किये हुए आसनसे चलायमान नहीं होना सो निषद्यापरीषहजय है। और वह इस प्रकार कि—

संयमकी क्रियाका जाननेवाला, धर्यही है सहाय

जिसका, उत्साहवाला, श्मसान उद्यान वन शून्यगृह पर्वतोंकी गुफा दराडे इत्यादिक जो पूर्वमें परिचयमें नहीं आये हों ऐसे स्थानोंमें रहनेवाला साधु उपसर्ग रोगविकार आदि होने पर अपने निश्चित आसनसे चलायमान नहीं होता है। मंत्रविद्यादिक इलाजको नहीं करता है। अनेक प्रकारके क्षुद्र जीवोंके द्वारा बाधा होने पर भी काष्ठ पाषाणादिकी तरह निश्चल रहता है। पहिले अनुभव किये हुए कोमल गादी गोदडा सिंहासनादिकके सुख रूप स्पर्शादिकको स्मरण नहीं करता है। वह तो प्राणियोंकी पीडाके परिहार करनेमें उद्यमशील रहता है। अपनी बुद्धिको ज्ञान ध्यान भावना मेंही रखता है ऐसे साधुके ही निषद्यापरीषहजय होती है।

१० शास्त्रकी आज्ञा प्रमाण शयनसे नहीं चिगना सो शय्यापरीषहजय है। वह इस प्रकार कि --

स्वाध्याय-ध्यान और मार्गमें गमन करनेसे उत्पन्न खेद सहित, कठोरभूमि-कहीं नीची कहीं ऊंची ऐसी विषमभूमि तथा जहां बहुत कांकरा कांकरी टुकडोंके खंडोंसे युक्त सगडी तथा अति शीत अति उष्ण भूमिमें एक मुहूर्त प्रमाण निद्राके लेने वाले, जैसा करवट लिया हो उसी तरह एक पखवाडे अथवा डंडकी तरह वा सूधे शयन करनेवाले तथा शरीरमें बहुत बाधा होनेपर भी संयम पालनेके लिए हलन चलन नहीं करनेवाले, व्यन्तरादिक दुष्ट देवोंके द्वारा त्रास

रूप करने पर भी भागने या उठनेके प्रति इच्छा रहित, मरनेके भयकी शंका रहित, पडे हुए काष्टकी तरह वा मुरदेके शरीरकी तरह पटलनसे रहित, व्याघ्र-सिंह बडे २ सर्पादि दुष्ट जीवोंसे भरे हुवे वनको देखकर 'यहांसे शीघ्र निकल भागना अच्छा है, रात्रि कब पूरी होगी' इत्यादि प्रकारके विषादको नहीं रखने वाले, पहिले गृहस्थावस्थामें भोगी ऐसी रूनी घृतवत कोमल शय्याको नहीं याद करने वाले ऐसे ज्ञानी वीतरागी साधुका आगमोक्त शय्यासे नहीं चलायमान होना सो शय्यापरीषहजय है ॥११॥

अनिष्ट वचनोंको सहन कर जाना सो आक्रोशपरीषहजय है। तीव्र मोह युक्त मिथ्यादृष्टि आर्य म्लेच्छ दुष्ट पापाचारी उन्मत्त गर्विष्ट इत्यादि प्रकृतिवाले लोगोंके द्वारा कहे गये, क्रोध रूप अग्निकी शिखाको बढाने वाले, हृदयमें शूल समान चुभने वाले कठोर वचन, मर्मच्छेदक वचन श्रवण करके भी परिणामोंमें कलुषित नहीं होना, उनकी सामर्थ्य ऐसी है कि यदि रोष करें तो संसारको भस्म कर दे तो भी साम्यभावका धारक साधु उन पर करुणाही करता है और ऐसा विचार करता है कि इनके कर्मके उदयसे अज्ञानभाव है, हमको देखतेही इनमें दुःख उत्पन्न हो गया है, ये बेचारे तो कर्मके पराधीन हैं इसमें इनका क्या अपराध है मेराही अशुभ कर्मका उदय है। इस प्रकारका चिंतवन करने

वाला साधु दूसरोंके द्वारा कहे गये दुर्वचनोंको सुनकर क्लेश को प्राप्त नहीं होता है किन्तु उन अनिष्ट वचनोंको सहनही करता है। ऐसे अनिष्ट वचनोंको सहन करने वाले साधुके आक्रोशपरीषहजय होती है ॥१२॥

मारने वालेमें रोष नहीं करना सो वधपरीषहजय है— ग्राममें, बगीचेमें, वनमें, नगरमें, रात दिन अकेले रहनेवाले आच्छादन रहित नग्न मुनिको क्रोधसे भरे ऐसे चोर-भील म्लेछ तथा पूर्व भवके वैरी मिथ्यादृष्टि धर्मके द्रोही, दुष्ट लोग नाना प्रकारके ताडन आकर्षण-घसीटन-बंधन-पाषाण-लाठी-शस्त्र चाबुक इत्यादिकोंसे मारते हैं तो भी वैर रहित होकर ऐसा विचार करते हैं कि यह शरीर तो अवश्य नष्ट होने वाला है मेरा तो जिस तरह व्रत,शील, भावना, ध्यान का नाश न हो और शमभावसे शरीरका पतन हो जाय तो श्रेष्ठ है। जैसे चदन जलने पर भी सुगंधिको देता है उसी प्रकार क्रोधसे मारन ताडन करते हुए भी दुष्ट वैरीके प्रति उत्तम क्षमाके बलमे अपने कर्मकी निर्जरा करते हुए धैर्यके धारी विकार परिणामको प्राप्त नहीं होते हैं ऐसे साधुओंके वधपरीषहजय होती है ॥१३॥

प्राणोंके नाश होने पर भी आहारादिके लिये दीनता रूप प्रवृत्तिका अभाव करना सो याचना परीषहका विजय है। क्षुधासे, मार्गके खेदसे, तपसे, रोगादिसे जिनका वीर्य

नष्ट हो गया है तथा सूखे वृक्षकी तरह आर्द्रता (गीलापन) रहित है शरीर जिनका, ऊंचे प्रगट हुए हैं नसाजाल जिनके तथा नीचे गढ गये हैं नेत्र जिनके, सूख गया है अधर (नीचेका ओष्ठ, जिनका, कृश हो गया है कपोलभाग जिनका सकुड गई है शरीरकी त्वचा जिनकी, शिथिल हुए हैं गोडा टकूडया, कटि, जंघा और बाहु जिनके, मौन धारण कर गमन है जिनका, गृहस्थोंके घरमें जहांतक किसीकी रोक नहीं वहांतक शरीरका दिखाना मात्र है व्यापार जिनका, मद रहित अपने आधीन है चित्त जिनका, प्राणोंके अंत होने पर भी आहार, वसतिका, औषधादिकके लिये दीन वचनोंसे मुखकी विवरणता द्वारा हस्तादिकके इशारेसे पटकी दुर्बलता से कभी भी याचना नहीं करते जैसे रत्नोंका व्यापारी मणिको देखता है उसी प्रकार दीनता रहित है शरीरका दिखाना जिनके, जैसे जगतमें वंदना किया हुवा अपने हाथको प्रकाशन करता है उसी प्रकार दाता भोजनके पात्रसे ग्रास उठाकर देनेके लिये हाथ करे तब साधु अंजु-लीको ऊंचा करते हैं। हस्तपुटको दीनता रहित आहारके समय धारण करने वाले साधुके याचना परीषहका सहना होता है। इस समय इस निकृष्ट कालके प्रभावसे दीन, अनाथ, पाखंडियोंसे भरे हुए जगतमें जिनेन्द्रके मार्गको नहीं जानते हुए यांचना करते हैं। ऐसोंके याचना परीषह

का सहना नहीं है ॥१४॥

आहारादिकका अलाभ होनेपर भी लाभकी तरह संतुष्ट जो साधु उसके अलाभ परीषहका विजय होता है—

पवनकी तरह अनेक देशोंमें है गमन जिनका, एक दिनमें एक काल भोजनके लिये ग्राम या नगरमें प्रवेश करते हैं तथा एक उपवास, दो तीन चार पांच उपवासादिककी पारणा करनेके लिये नगर ग्राममें आते हैं वहां एक वार शरीरके दिखाने मात्रमें प्रवृत्ति करते हैं; 'देहि' इत्यादिक याचना रूप अयोग्य वचन रहित, "आज आहारका लाभ होगा कि कल होगा" ऐसे संकल्पसे रहित, यदि एक ग्राममें भिक्षाका लाभ न होवे तो दूसरे ग्राममें गमन क्रिया रहित हस्तपुटमात्रही है पात्र जिनके, बहुत दिनों तक बहुत घरोंमें परिभ्रमण करने पर भी भोजनका लाभ न होने पर भी संक्लेश रहित है चित्त जिनका, 'यह पुरुष दाता नहीं है अन्य ही दाता है, इत्यादि परीक्षा रहित है परिणाम जिनका, लाभसे अलाभको ही परम तप मानकर संतोषको धारण करने वाले साधुके अलाभपरीषह जय होता है ॥१५॥

नाना प्रकारकी व्याधि होते हुए भी इलाजके प्रति इच्छाका अभाव होना सो रोगपरीषहजय है। ये शरीर दुःखका कारण है, अपवित्रताका पात्र है. जीर्णवस्त्रकी तरह अवश्य त्यागने योग्य है, वायु, पित्त, कफ-सन्निपातके

निमित्तसे अनेक तरहके ज्वर काश श्वासादिक रोगोंसे पीडित है। इस प्रकारके अपने शरीरको अन्यके शरीरकी तरह मानने वाला, वीतरागपरिणामसे अलग नहीं, देहके इलाजसे विरक्त है चित्त जिनका, रत्नत्रय इस देह बिना रहता नहीं है, ऐसे रत्नत्रय के सहकारी इस देहका अकालमें नाश न होने देनेके लिये आचारांगकी आज्ञा प्रमाण निर्दोष आहार ग्रहण करने वाले, जिनके जल्लौषधादिक अनेक प्रकारकी ऋद्धियां तपके प्रभावसे उत्पन्न हो जाती हैं तो भी शरीरमें निस्पृहपन होने से रोगके प्रतिकारकी नहीं इच्छा करते हुए रोगको पूर्व कर्म कृत फल जानकर समभावसे सहते हुए ऐसा विचार करने वाले कि-ये तो कमाये हुए कर्मका ऋण चुक रहा है इससे मैं तो ऋण रहित हो रहा हूं इस प्रकारके चितवन करने वाले मुनि के रोगपरीषहका विजय होता है ॥१६॥

तृण कंटकादिके निमित्तसे उत्पन्न वेदनाको सहने वाले साधुके तृणस्पर्शपरीषहजय होती है। शरीरमें व्याधि और मार्गमें गमन तथा शीत-उष्णता जनित खेदके दूर करनेके लिये आपके निमित्त नहीं संवार ऐसे सूखे तृण-पत्र कठोरभूमि-कंटक-काष्ठफलक-शिलातलादिक प्राशुक देशोंमें शय्या वा आसनादिक करनेसे तृणादिक के द्वारा बाधाको प्राप्त भया है शरीर जिनका, उत्पन्न हुवा है खाजका विकार

जिनकें, तो भी तृण-कंटक कठोरभूमि कठोर कंकरोंकी भूमि का स्पर्श रहित, दुःखको नहीं अनुभव करने वाले मुनिकें तृणस्पर्शपरीषहजय होती है ॥१७॥

अपने शरीरके मल और आगन्तुक मलके संचयके नाश होनेके संकल्पका अभाव होना सो मलपरीषहजय है। जीवोंकी पीडाके परित्याग करनेके लिये यावज्जीवन स्नानके त्यागकी है प्रतिज्ञा जिनकें, पसीना रूप कीचडसे लिप्त है सब अंग जिनका, खाज दाद कोढकी उत्कटता सहित है शरीर जिनका, नख रोम डाढी मूंछके केशोंका और स्वाभाविक बाह्य मलके मिलापके कारण अनेक चामके मध्य है विकार जिनकें, अपने और परके शरीरमें मलके संचयके दूर करनेमें नहीं है मन जिनका, कर्ममल रूप कीचडके नाश करनेमें उद्यमी तथा पहिले भोगे हुए स्नान विलेपनादिकके स्मरणसे पराङ्मुख है चित्त जिनका ऐसे साधुकें मलपरीषहजय होता है ॥१८॥

जिन साधुओंके सन्मान अपमानमें समरूप होता है जिनकें सत्कारपुरस्कारकी अभिलाषा नहीं होती है उन्हींके सत्कारपुरस्कार परीषहजय होती है। मैं चिरकालसे ब्रह्मचर्यका सेवन करता आ रहा हूं, महा तपस्वी हूं, स्वमत परमतके निश्चयका जानने वाला हूं, हितकारी उपदेश देनेमें तत्पर हूं, रत्नत्रयके मार्गमें प्रवीण हूं, मैंने कितने ही बार

वादियोंका विजय किया है ऐसा हूं तो भी ये लोग मुझे प्रणाम नहीं करते हैं, मेरी भक्ति नहीं करते हैं, मुझे देखते ही हर्षसे खड़ा होकर आसनादिक नहीं देते हैं। इस जातिके परिणाम मुनि कभी भी न हीं करते हैं। वे तो केवल अपने आत्म कल्याणकाही विचार करते हैं किसीसे सत्कार पुरस्कारकी इच्छा नहीं करते हैं ऐसे मुनिके हो सत्कार पुरस्कार परीषहजय होती है। पूंजा प्रशंसा रूप तो सत्कार कहलाता है और नाममें क्रियाके आरंभमें अगुआ बनाना, प्रधान कार्यमें बुलाना सो पुरस्कार है ॥१९॥

बुद्धिके मदका अभाव करना सो प्रज्ञापरीषहजय है। मैं अंग पूर्व प्रकीर्णकोंमें प्रवीण हूं, संपूर्ण ग्रंथ तथा उसके अर्थका निश्चय करने वाला हूं त्रैकालिक विषयोंके अर्थका जानने वाला हूं, शब्दशास्त्र, न्यायशास्त्र, अध्यात्मशास्त्रके जाननेमें पूर्ण निपुण हूं हमारे आगे दूसरे २ विद्वज्जन सूर्यके उद्योतसे तिरस्कारको प्राप्त हुए खद्योतकी तरह अवभासमान होते हैं। इस प्रकारके प्रज्ञा [बुद्धि] के मदका अभाव करना सो प्रज्ञापरीषहजय है ॥२०॥

अपने अज्ञानपनेसे अपना तिरस्कार होना तथा ज्ञान की अभिलाषा करने पर भी ज्ञानका नहीं होना ऐसे अज्ञान जनित परीषहका जीतना सो अज्ञानपरीषहजय है-ये अज्ञानी है, कुछ नहीं जानता है, पशुसमान है, इत्यादि प्रकारके

तिरस्कारके वचनोंको म सहता हूं, अध्ययन करनेमें तथा अर्थके ग्रहण करनेमें और तिरस्कार सहनेमें सशक्त हूं, बहुत कालका दीक्षित हूं, नाना प्रकारके तपोंके भारसे व्याप्त हूं, सम्पूर्ण सामर्थ्योंमें उद्यमशील हूं अनिष्ट मन, वचन, काय की प्रवृत्तिसे रहित ह तो भी अब तक मेरे ज्ञानका अतिशय नहीं उत्पन्न हुवा, स्वप्नमें भी ऐसे विकल्पोंको नहीं करनें वाले साधुके अज्ञान परीषहजय जानना चाहिए ॥२१॥

दीक्षादिकोंको निरर्थक जाननेका अभाव सो अदर्शन परीषह जय है--मैं संयमियोंमें मुख्य हूं, दुर्द्धर तपका आचरण करने वाला हूं, परम वैराग्य भावना स शुद्ध मनका धारक हूं, सकल पदार्थोंके तत्वोंका जानने वाला हूं।
अर्हत्के आयतन जो साधुजन और धर्म इनका पूजक ह, अब भी मेरे ज्ञानका अतिशय प्रगट नहीं हुआ, सुना है कि महान उपवासादिक आचरण करने वालेंके प्रातिहार्य विशेष प्रगट हो जाते हैं सो ऐसा कहना तो प्रलाप मात्र है। कहना ही कहना है ये दीक्षा भी निरर्थक है. व्रतोंका पालनाभी निष्फल हैं। हमको तो कुछ प्रभाव प्रगट हुआ नहीं है। ऐसें २ विचार प्रगट नहीं होना सो अदर्शनपरीषहजय है ॥२२॥ इस प्रकार बिना संकल्पही उत्पन्न हुए बाईश परीषहोंको सहने वालोंका चित्त संक्लेश रूप नहीं होता है। ऐसे मुनिके रागादिक परिणाम जनित आस्त्रवका अभाव

होनेसे महान संवर होता है।

गुणस्थानोंके क्रममें परीषह निम्न प्रकारसे हो सकती हैं—दशवें ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें चौदह परीषह हो सकती हैं, यहां नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, सत्कार, पुरस्कार, आक्रोश, याचना और अदर्शन ये आठ परीषह नहीं होती हैं, बाकी चौदहकी सत्ता मात्र रहती है। तेरहवें गुणस्थानी केवली जिनके ग्यारह परीषह कल्पित कीजाती हैं। वे वेदनीय कर्मके सद्भावसे कल्पित कीजाती हैं। यहां ऐसा प्रश्न हो सकता है कि-यदि ग्यारह परीषह हैं तो क्षुधादिकका भी प्रसंग आवेगा? सो ऐसा नहीं है—क्योंकि यहां घातिया कर्मके उदयका अभाव है, इसलिए वेदनीय कर्ममें क्षुधादि उत्पन्न करनेकी सामर्थ्यका अभाव है। जिस प्रकार मन्त्र औषधिसे जिसकी मारनेकी शक्ति क्षीण होजाती है ऐसा विष द्रव्य मारनेमें असमर्थ होजाता है, उसी तरह ध्यान रूपी अग्निसे दग्ध किये हैं घाति कर्म रूपी इंधन जिनने, ऐसे केवली जिनके अन्तराय कर्मके अत्यन्त अभावसे निरन्तर शुभ नोकर्म पुद्गलोंका संचय होनेसे प्रक्षीण हुआ है सहाय बल जिसका ऐसा वेदनीय कर्म, अपना वेदना रूप प्रयोजन उत्पन्न करने को असमर्थ है। इससे भगवान जिनके वेदनीका उदय होने पर भी क्षुधाके अभावका निश्चय करना चाहिए। संसारी

जीवोंके वेदनी कर्मके उदयसे क्षुधा तृषादि ग्यारह परीषह होती हैं। केवली जिनके भी वेदनीय कर्मका उदय है इससे कर्म रूप कारण देखकर केवलीके ग्यारह परीषह कही गई हैं परन्तु मोहनीय कर्मके बलसे वेदनीय कर्म प्रबल होता है, सो आहारादिककी इच्छा रूप क्षुधादि परीषह उत्पन्न करता था, अब वेदनीयको मोहनीय कर्मकी सहायताका अभाव होगया, इससे वेदना देने रूप शक्ति नहीं रही, तब क्षुधादिककी वेदना कैसे उत्पन्न कर सकता है ? असाता वेदनीय की उदीर्णा हो तब क्षुधा उत्पन्न होवे, सो वेदनीय कर्मकी उदीरणा छट्ठे गुणस्थान तक ही है, ऊपर नहीं है। वेदनीय की उदीरणा बिना केवलीके क्षुधादिककी बाधा कैसे हो ? जैसे निद्रा प्रचलाका उदय तो बारहवें गुणस्थान पर्यन्त है, परन्तु उदीरणा बिना निद्रा नहीं आती, निद्रा कर्मके उदय से ही ऊपरके गुणस्थानोंमें निद्रा आजावे तो प्रमादीके ध्यानका अभाव होजावे। जैसे संज्वलनके मन्दोदय होने पर अप्रमत्त गुणस्थानमें प्रमादका अभाव है, क्योंकि प्रमाद तो संज्वलनके तीव्रोदयसे होता है, मन्दोदयमें नहीं होता है। उसी तरह वेदके तीव्रोदयसे संसारी जीवोंके मैथुन संज्ञा होती है, और वेद नवमें गुणस्थान पर्यन्त है परन्तु वेदके मन्दोदयसे श्रेणी चढे हुए संयमियों के मैथुन संज्ञाका अभाव है। मन्दोदयसे मैथुनमें इच्छा उत्पन्न नहीं होती है

तथा निद्रा प्रचला कर्मका उदय तो बारहवें गुणस्थान तक है परन्तु मन्दोदयसे निद्रा नहीं व्यापती है। उसी प्रकार वेदनीय कर्म भी केवली भगवानके क्षुधादिक वेदना उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं है। जैसे स्वयम्भूरमण समुद्रके समस्त जलका एक सरसोंका अनन्तवां भाग प्रमाण विषकी कणिका विष रूप करनेमें असमर्थ है उसी तरह अनन्त गुणे अनुभागका धारक साता वेदनीयके उदय सहित केवली भगवानको अनन्त भाग खण्ड असंख्यात बार जिसका होगया ऐसा असाता वेदनीय कर्म क्षुधादिक वेदनाको नहीं उत्पन्न कर सकता है। जो तुम ऐसा कहो कि आहार विना केवलीके देहकी स्थिति कैसे रहती है? तो उसका समाधान ऐसा जानना चाहिये कि आहारके विना देवोंके शरीरकी स्थिति रहती है या नहीं? जैसे देवोंकी स्थिति कवलाहार विना रहती है उसी प्रकार केवली के देहकी स्थिति भी रहती है। जो तुम ऐसा कहो कि देवोंके तो मानसिक आहार है इससे उनके देहकी स्थिति रहती है, तो हमारा कहना ये है कि केवलीकें भी निरन्तर शुभ, सूक्ष्म, शरीरमें बलाधानके कारण ऐसे नोकर्म पुद्गलों का ग्रहण रूप आहार है ही। अगर तुम ऐसा कहो कि केवलीकी देह तो मनुष्यकी देह है, मनुष्यकी देह औदारिक होती है, सो औदारिक शरीरकी स्थिति बिना कवला-

हारके नहीं रह सकती है इसलिए देहवत् **कवलाहार ही** उचित है , सो ऐसा कहनाभी ठीक नहीं है, क्योंक मनुष्यके तपश्चरण जनित ऐसा प्रभाव प्रगट होता है, जिसकी उपमा त्रैलोक्यमें किसीसे नहीं बनती । दूसरें भगवान केवलीकें अनंत ज्ञान और अनंत वीर्य प्रगट हो जाता है । सामान्य मनुष्योंकें इन्द्रिय जनित ज्ञान होता है और केवलीकें अतींद्रिय ज्ञान होता है । इसलिये केवली जिनको अन्य मनुष्य के समान क्यों कहते हो ? यदि सामान्य मनुष्यमें और केवलीमें समानता हो जाय तो फिर आत्मा और परमात्मामें क्या भेद रह सकता है ? जिस समय क्षपक श्रेणी चढते हैं उस समय अध प्रवृत्ति करणके परिणामोंसे चार आवश्यक होते हैं (१) समय समयमें कषायोंकी मंदतासे परिणामोंकी अनंत गुणी विशुद्धता (२) पूर्वमें जो कर्मोंकी स्थिति बांधी हो उसका प्रतिसमय अनंत गुणा घटना (३) साता वेदनीय आदि प्रशस्त कर्मोंकी रस देनेकी शक्तिका प्रतिसमय अनंतगुणा बढना और (४) असाता वेदनीय आदि अप्रशस्त कर्मोंकी प्रकृतियोंका अनुभाग समय समय घटना । क्योंकि अशुभ प्रकृतियोंमें विष हालाहल रूप शक्तिका तो अभाव हो जाता है, वह तो निंबू कांजी रूप रस रह जाता है । इस प्रकार चार आवश्यक तो अधःप्रवृत्ति करणसे होते हैं । और अपूर्व करणसे गुणश्रेणीनिर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थिति-

…ण्डकोत्कीर्ण और अनुभाग काण्डकोत्कीर्ण ये चार आवश्यक होते हैं। इससे केवली भगवानके असाता वेदनीय आदि अप्रशस्त प्रकृतियोंका रस असंख्यात बार अनन्तानन्त का भाग देकर घट गया तब असातामें सामर्थ्य कहां रही ? जो केवलीके क्षुधादिक वेदना उत्पन्न करे। असाता वेदनीय का बन्ध तो छट्टे गुणस्थान तक ही है, सातवें गुणस्थान से असाताका बन्ध होता नहीं है, एक साता वेदनीयका ही बन्ध होता है। ११-१२-१३ वें गुणस्थानमें जो साता वेदनीयका बन्ध है सो एक समयकी भी स्थिति नहीं पाता है, क्योंकि स्थितिका कारण तो कषाय है सो वह तो मूल में ही नष्ट होगया, तब साताका बन्ध उदय रूप होता ही बंधता है। पूर्वका बांधा असाताका मन्दोदय वर्तमान काल का साताका उदय रूप होकर परिणम जाता है। तब क्षुधादि वेदना कौन उत्पन्न करेगा ? जैसे अमृतके समुद्रमें मिला हुवा एक जला हुवा विषका कण रस नहीं दे सकता है। दूसरे बड़ी मूर्खता प्रगट दीखती है कि तीन लोकके अधिपतियोंसे वन्दनीय देवाधिदेव परम पूज्य अर्हत् भट्टारकको जगतके विषयी कषायी रंक पुरुषोंके समान कहना इसके समान दूसरी मूर्खता नहीं हो सकती है। संसारमें भी प्रसिद्ध है कि मणि-मन्त्र-औषधि-विद्या-तप इनका अचिंत्य प्रभाव है।

चिंतामणि और दूसरे २ पत्थर समान कैसे हो सकते हैं ? तारागण और सूर्य इनमें समता कैसे हो सकती है ? इसलिये अनेक प्रकारकी वेदनाओंके नाश करनेमें समर्थ ऐसे केवलज्ञानके होने पर केवलींके आहार नीहार मानना अनंत संसारका कारण है। प्राणियोंका जिन्दा रहना तो आयुकर्मके आधीन है, केवल आहार करने मात्रसे नहीं है। क्योंकि भोगभूमिके मनुष्योंका शरीर तीन कोश प्रमाण है, तीन पल्यकी उनकी आयु होती है और तीन दिन बीत जानेके बाद बेर प्रमाण आहार ग्रहण करते हैं। एवं अण्डेमें पक्षी अपनी माताके उदरकी उष्मा ही से वृद्धिको प्राप्त होते हैं, क्योंकि पक्षियोंके उष्माहार होता है, एकेन्द्रियके जल पवनादि ही आहार हैं। लौकिक जन भी कितने ही जीवोंके पवनका ही आहार कहते हैं, नारकियोंके कर्मोंके रसका भोगना ही आहार है। देवोंके मानसिक आहार है उसी तरह केवली जिनके नोकर्म पुद्गलोंका आहार है।

यदि अन्य मनुष्योंकी तरह केवली जिनके वेदनीके उदयसे कवलाहार मानते हो तो सयोगी जिनके द्रव्य मन का सद्भाव होनेसे मनके विकल्प भी मानो, तथा द्रव्येन्द्रियां विद्यमान हैं इससे इन्द्रिय जनित ज्ञान भी मानो. और शुक्ल लेश्या मौजूद है इसलिये कषायके माननेका भी प्रसंग आवेगा ! और जिस मुनिको कायवल ऋद्धि हो जाती है

उसके भी ऐसा सामर्थ्य प्रगट हो जाता है जिससे तीनों लोकोंको चलायमान कर सकता है, फिर केवली के सामर्थ्य की तो कहना ही क्या है। और सुनो-भक्षण करनेकी इच्छाको बुभुक्षा कहते हैं सो भगवानके मोहनीय कर्मका अभाव हो गया तब भोजनकी इच्छा कैसे हो गई? अगर मोहनीय कर्मके अभाव होने पर भी इच्छा होती है ऐसा मानते हो तो स्त्रीके भोगने का सम्भाव भी मानना पडेगा तब वीतरागताको जलांजलि देनी पडेगी।

यहां ऐसा प्रश्न हो सकता है कि केवली जो भोजन करते हैं सो नित्य एक बार करते हैं कि अनेक बार करते हैं? एक दिन दो दिन के आंतरेसे करते हैं कि छह महीना वरस दिनके आंतरेसे करते हैं? उनके कितने दिनोंके अंतराल में भोजन होता है उसका प्रमाण तो कहो? यदि प्रमाण कहोगे तो उनकी शक्ति का उतनाही प्रमाण आया फिर अनत शक्ति कहां रही? दूसरे भोजन करते हैं सो क्षुधाकी वेदनासे करते है अथवा रसनेंद्रियके स्वादके लिये करते हैं? जो ऐसा कहोगे कि क्षुधाकी वेदना नहीं सही जाती इससे भोजन करते हैं तो क्षुधाके समान दुःख नहीं फिर केवली के अनंत सुख कहना व्यर्थ हैं। यदि रसना इन्द्रियके स्वादके लिये करते हैं तो अतीन्द्रियात्मक स्वाधीन सुखका अभाव आवेगा जब भोजनके आधीन ही सुख रहेगा

फिर स्वाधीन परमेश्वरपनेका अभाव हो जावेगा। फिर प्रश्न होता है कि कवली जिन जिस भोजनका आस्वाद लेते हैं वह केवल ज्ञानसे आस्वादते हैं या इन्द्रियोंसे आस्वादते हैं? यदि केवलज्ञानसे स्वादते हैं तो दूरवर्ती सारे तीनों लोकोंमें रहने वाले आहारका भी आस्वाद कर सकते हैं फिर कव-लाहारसे क्या प्रयोजन है? यदि रसनेन्द्रियसे आहारका स्वाद लेते हैं तो केवलीकें इन्द्रियजनित मतिज्ञानका प्रसंग आवेगा तब तो केवलज्ञानका अभाव ही होजावेगा। एक ये भी प्रश्न खडा होता है कि केवली त्रैलोक्यमें रहनेवाले संपूर्ण जीवोंके मारण, ताडन, त्रासन, मांस, रुधिरादिकोंको प्रत्यक्ष देखते हैं फिर भोजनका अंतराय कैसे टालते होंगे? अल्प शक्तिका धारक श्रावक भी ऐसे घोर कर्मोंको देख लेवे तो अन्तराय माने फिर केवली कैसे भोजन कर सकते हैं? भोजनकी इच्छा मात्रसे सप्तम गुणस्थानका धारक तथा श्रेणीमें रहने वाला साधु छट्ठे गुणस्थानको प्राप्त करता है और प्रमादी कहलाता है फिर भोजन करने वाला केवली प्रमादी किस कारण नहीं हो सकता है? यह बडा आश्चर्य है। ध्यान रूपी अग्निसे जला दिये हैं चार घातिया कर्म जिनने और अनन्त बाधा रहित ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य जिन के प्रगट होगये हों ऐसे भगवान केवलीके अन्तराय कर्मके अत्यन्त अभावसे निरन्तर समय समय शुभ सूक्ष्म पुद्गलोंका

संचय होनेसे औदारिक शरीर कवलाहार बिना ही अनन्त शक्तिको धारण करता है इसलिए अधिक क्या लिखा जाय केवलीके आहारकी असत्य कल्पना कर मोहनीय कर्मकी सत्तर कोडाकोडी सागरकी स्थिति निरन्तर बांधना उचित नहीं है।

नाश किया है घातिया कर्मका चतुष्टय जिनने ऐसे जिन भगवानके वेदनीय कर्मका सद्भाव होने पर भी द्रव्य कर्मके सद्भावमें एकादश परीषह नहीं होती है, क्योंकि मोहनीय कर्मकी सहायता बिना वेदनीय कर्म क्षुधादिक वेदनाओंको नहीं कर सकता है। यद्यपि वेदना नहीं करे तो भी वेदनीयके कर्म परमाणुके सद्भावमें उपचार से ग्यारह परीषह कही गई हैं: जैसे सम्पूर्ण ज्ञानावरण कर्मके अभाव होजाने पर सकल पदार्थोंका अवभासक ऐसे केवलज्ञानके प्रगट होने पर भी केवली भगवानके उपचारसे ध्यान कहा जाता है। भगवानके सकल पदार्थ एक साथ प्रत्यक्ष हुए तब एकाग्र चिन्ता निरोध ध्यान—एक पदार्थका अवलम्बन कर चिन्तवन कहां रहा? तो भी ध्यानका फल कर्मके नाश होनेके सद्भावसे उपचार से ध्यान कहा है।

अथवा इसही वाक्यमें केवली जिनके ग्यारह परीषह नहीं होती है क्योंकि परीषह तो उपचारसे कहे गये हैं

सो उपचार तो झूठा ही माना गया है। जैसे किसी बालकमें क्रूरपना शूरपना देखकर उपचारसे सिंह कह दिया, तीक्ष्ण नख दांत कपिलनयन केशावलीको धारण करने वाला सिंह नहीं है। परंतु सिंहका कोई एक धर्म देखकर सिंह कहना सो उपचार ही है। लौकिक जन भी कहते हैं- यह वस्त्र गहना मेरा है, यह देश मेरा है, यह राज्य हमारा है, यह नगर हमारा है, सो ऐसा कहना उपचार ही है, उपचार झूठा ही होता है। इसलिये जिनेन्द्रके उपचार से कहे गये ग्यारह परीषह नहीं होते है। छट्टे गुणस्थान से नवमें गुणस्थान तक सब परीषह हो सकती हैं। ज्ञानावरणके उदय होनें पर प्रज्ञा और अज्ञान ऐसे दो परीषह होते हैं। दर्शन मोहके उदयसे अदर्शन और अंतराय कर्मके उदय से अलाभ परीषह होती है। चारित्र मोहनीयके उदयसे नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार पुरस्कार ऐसी सात परीषह होती हैं। बाकी की ग्यारह परीषह वेदनीय कर्मके उदयसे होती हैं। परंतु एक साथ किसी जीव के परीषह आवें तो उन्नीस तक हो सकती हैं इससें ज्यादा नहीं। इस प्रकार परीषहजय का वर्णन किया।

अब चारित्रका वर्णन किया जाता है जो संवर और निर्जराका साक्षात्कारण है—

जिन क्रियाओंसे संसारके कारणभूत राग द्वेषादि

परिणामोंकी निवृत्ति होती है तथा आत्मस्वरूपकी उपलब्धि होती है उसे चारित्र कहते हैं। सो ही बतलाया गया है कि—व्रतोंका धारण करना, संमितियोंका पालना, क्रोधादि कषायोंका निग्रह करना, अशुभ मन वचन कायकी प्रवृत्ति रूप दंडोंका त्याग करना, पांचों इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे विरक्त करना अर्थात् इन्द्रियोंका जीतना जिसके होय उसके संयमका सद्भाव जानना चाहिये।

सच्चा चारित्र तो उपयोगकी चंचलताके नाश होनेपर अपने रूपमें स्थिरता हो जाना ही है। परन्तु व्रताचरणादि जितने हैं वे सब व्यवहार चारित्र हैं, सो व्यवहार चारित्र निश्चय चारित्रका कारण है। आचार्योंने चारित्रके पांच भेद बतलाये हैं जैसा कि परम पूज्य प्रातःस्मरणीय पूज्य पाद आचार्य प्रवर उमास्वामीजीने मोक्षशास्त्रमें बतलाया है कि– 'सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराय-यथाख्यातमिति चारित्रम्' अर्थात् चारित्र पांच प्रकारका होता है १. सामायिक २. छेदोपस्थापना ३. परिहारवि-शुद्धि ४. सूक्ष्मसांपराय और ५. यथाख्यात। इनका स्वरूप इस प्रकार हैं—

अभेद रूपमें संपूर्ण सावद्य योगका जिसमें त्याग हो उसको सामायिक चारित्र कहते हैं। पर पदार्थोंमें ममत्व भाव होनेसे राग द्वेषकी प्रवृत्ति होती है और राग द्वेषके

सद्भावमें उपयोग दूषित रहता है ऐसी हालतमें आत्मामें ममता भाव नहीं रह सकता है, समता भावका होनाही सामायिक है। सामायिक ही शुद्ध चिद्रूपके दर्शन होनेमें कारण है। सामायिक चारित्रका पालन करने वाला ही अपने आत्माके संमुख होता है। ऐसे आत्माको जो पर पदार्थोंमें उलझा रहता है कभी भी आत्मस्वरूपका अवलोकन नहीं हो सकता है, इसलिए पर पदार्थोंमें से अपने उपयोगको हटाकर स्वस्वरूपमें स्थिर करना ही सच्चा सामायिक चारित्र है।

कोई व्यक्ति सामायिक संयम रूप होकर फिर उससे चिगकर सावद्य व्यापार रूप होकर बादमें प्रायश्चित्तसे सावद्य व्यापारसे उत्पन्न दोषको छेदकर आत्माको व्रत धारणादि रूप संयममें धारण करे सो छेदोपस्थापना चारित्र है। अथवा व्रत-समिति-गुप्ति आदिका भेद रूप चारित्रही छेदोपस्थापना है।

प्राणियोंकी पीडाका परीत्याग करनेसे विशेष शुद्धता जिसके हो सो परिहारविशुद्धि चारित्र है। ऐसा परिहारविशुद्धि चारित्र किसके होता है? इस बातको कहते हैं— जन्मसे तीस वर्ष प्रमाण जिसकी अवस्था हो और जन्म दिन से लेकर सर्व काल जो सुखी रहा हो, तथा तीस वर्ष पीछे जिन दीक्षा ग्रहण कर श्री तीर्थंकरके चरणारविन्द सेवन करे और तीर्थंकरके चरणोंके समीप प्रत्याख्यान नामक नवमां पूर्व

पढे और जीवोंका विरोध, जीवोंके प्रगट होनेका काल जीवोंका प्रमाद, उत्पत्ति, योनि, देश, द्रव्य स्वभावके विधान का जानने वाला हो, प्रमाद रहित हो, बडी शक्तिका धारक हो, जिसके कर्मोंकी बडो भारी निर्जरा हो, दुर्द्धर चर्याका आचरण करने वाला हो, तीन सन्ध्याओंको छोड कर अन्य अवसरमें दो कोश प्रमाण विहार करने वाला हो रात्रिमें विहार न करने वाला हो, वर्षा कालका नियम रहित हो, ऐसे साधुके परिहार विशुद्धि संयम होता है। अन्यके नहीं होता है। इनके शरीरसे जीवोंकी विराधना नहीं होती है। परिहार विशुद्धि चारित्रका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है। छट्टे सातवें इन दोनों गुणस्थानोंमें ये संयम होता है। यदि अन्तर्मुहूर्तमें गुणस्थान पलट जाय तो संयम छूट जाता है। उत्कृष्ट काल अडतीस वर्ष घाट कोटि पूर्व है। किस प्रकार है सो ही बतलाया जाता है-उत्पत्ति दिनसे तीस वर्ष बाद दीक्षित होकर आठ वर्ष तीर्थकरोंके निकट रह कर पीछे परिहार विशुद्धि उत्पन्न हो, आयु कोटि पूर्वकी हो इसलिए ऊपर कहे हुए विधानके अनुसार अडतीस वर्ष कम आयु जाननी चाहिये।

सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानमें सूक्ष्म सांपराय चारित्र होता है- इस चारित्र वाला सूक्ष्म और स्थूल हिंसाके त्यागमें असावधान नहीं होता।

जिनका उत्साह अखंडित होता है, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान रूपी महापवनसे संधुक्षित जो प्रशस्त परिणामरूपी अग्निकी शिखा उससे दग्ध किया है कर्मरूपी ईंधन जिन्होंने ध्यानविशेषके द्वारा शिखारहित किया है कषाय रूप विषका अंकुर जिनने, नाशके संमुख किया है सूक्ष्म मोहरूपी बीज जिन्होंने, ऐसे साधुके सूक्ष्मसांपराय चारित्र होता है।

सम्पूर्ण उपशांत और क्षीणमोहके होनेसे यथाख्यात चारित्र होता है— जैसा आत्माका स्वभाव है उसी प्रकार सम्पूर्ण मोहनीयके उपशमसे वा क्षयसे प्रगट होता है इस लिये यथाख्यात चारित्र कहलाता है वह उपशांतकषाय, क्षीण कषाय, सयोगकेवली वा अयोगकेवली जिनके होता है। सामायिकचारित्र और परिहारविशुद्धि चारित्र तो छट्टे गुणस्थानसे नवमें गुणस्थानतक होते हैं। परिहारविशुद्धि चारित्र छट्टे सातवें गुणस्थानमें ही होता है। सूक्ष्मसांपराय चारित्र दशवें गुणस्थानमें होता है और यथाख्यात चारित्र ग्यारहवें गुणस्थानसे चौदहवें गुणस्थान तक होता है। इतना विशेष और जानना कि सामायिक छेदोपस्थापनाकी जघन्य विशुद्धिताकी लब्धि अल्प है उससे परिहार विशुद्धि चारित्रकी जघन्य विशुद्धिता अनत गुणी है, उससे परिहारविशुद्धिताकी उत्कृष्ट विशुद्धिता अनंत गुणी है, उससे सामायिक छेदोपस्थापनाकी उत्कृष्ट विशुद्धिता अनंत गुणी है, उससे यथा-

ख्यात चारित्रकी संपूर्ण विशुद्धता अनंत गुणी है। उसमें हीनाधिकता नहीं होती है। इस प्रकार चारित्र गुणका वर्णन किया।

आत्मा रत्नत्रय रूप है रत्नत्रयको छोडकर आत्मा कोई भिन्न चीज नहीं है। क्योंकि रत्नत्रय आत्मा को छोडकर अन्य द्रव्यमें नहीं पाया जाता है, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानके हो जाने पर भी जब तक चारित्र गुणकी पूर्णता नहीं हो जाती है जीवका निज स्वरूप व्यक्त नहीं हो पाता है जितने भी मोक्षगामी हुए है सभीने चारित्र पालन करके ही शुद्ध आत्माकी प्राप्ति की है। वैराग्य मणि-मालामें चारित्र पालनेकी प्रेरणा निम्नलिखित रूपमे की है—

जीव जहीहि धनादिक तृष्णां मुच ममत्व लेश्यां कृष्णाम्।
धर चारित्रं पालय शीलं सिद्धिवधू क्रीडा वर लीलम्॥

भाव ये है कि हे भव्यात्मन्! तूं धनादिककी तृष्णा को छोडकर, पर पदार्थमें ममत्वका त्याग कर कृष्ण लेश्या रूप परिणामोंका परिहार कर और मुक्ति रूपी स्त्रीके साथ क्रीडा करनके लिए शीलका पालन कर तथा चारित्रको धारण कर फिर दूसरी तरह से प्रेरणा कीगई है कि—

भ्रातर्में वचन कुरु मारं चेत्त्वं वाछमि संसृति पारम्।
मोहं त्यक्त्वा कामं क्रोधं त्यज भव त्वं सयमवरबोधम्
हे भाई यदि तूं संसार समुद्रके पार जाना चाहता है

तो मेरे सारभूत वचनोंके अनुसार काय कर, वह इस प्रकार कि मोहको छोड़कर तथा वासना और क्रोधका भी त्याग कर, संयम [चारित्र] और सम्यग्ज्ञानको धारण कर।

मतलब ये है कि निज स्वरूपकी प्राप्ति होनेमें बाधक काम क्रोधादिक हैं। इन्हीं काम क्रोधादिकसे चारित्र पालने में शिथिलता होती है। इसीलिये आचार्य इनके त्याग करने का उपदेश देते हैं। संसारी प्राणियोंने मोहके वशीभूत होकर स्वात्माके चिदानन्दका तो त्याग किया है और इन्द्रियोंके विषयोंकी प्राप्तिमें सुख माना है। आत्माका रूप जो ज्ञान है उसका आनन्द जिसको आने लगता है उसको इन्द्रियोंके विषयोंकी प्राप्तिका आनंद नीरस मालूम होने लगता है। धन्य हैं वे जीव जो निजानंदमें लय होते हैं। ज्ञानी आत्माही सच्चे स्वरूपको प्राप्त करता है। एक अनुभवी विद्वानने लिखा है कि 'एक ज्ञानी आत्मा सब प्रकारके विकारोंको बन्द करके सिर्फ आत्माके स्वरूपके विचारमें ही मग्न रहता है, क्योंकि श्री गुरुके उपदेशसे उसको ऐसाही अनुभव हो जाता है कि सच्चा सुख संसारके किसी पदार्थ में न होकर आत्मामें ही है। संसारमें छह द्रव्य हैं उनमें धर्मादिक पांच द्रव्य तो जड है एक जीवही चैतन्य गुण-युक्त है। जहां चेतनाका विलास होता है वहीं ज्ञानका विलास होता है। ज्ञान स्वभावका अनुभव करनाही सच्चे

सुखके स्वाद प्राप्त करनेका उपाय है । ये संसारी प्राणी कर्मचेतना और कर्मफल चेतनाके अनुभवको करता हुआ निरन्तर राग द्वेष मोह रूप मलीन भावोंका ही स्वाद ले रहा है इसीसे इसको वीतराग आनंदका स्वाद नहीं आता है। राग सहित ज्ञानोपयोगके स्वादसे रागका, द्वेष सहित ज्ञानोपयोगसे द्वेषका, मोह सहित ज्ञानोपयोगके स्वादसे मोहका, काम सहित ज्ञानोपयोगके स्वादसे कामका, भय सहित ज्ञानोपयोगके स्वादसे भयका स्वाद आता है। निर्मल जलके पीनेसे जैसे जलका असली स्वाद आता है उसी तरह वीतरागता सहित ज्ञानोपयोगके स्वादसे आत्माके सच्चे सुख का स्वाद आता है।

इसलिये सहजानंदकी खोज करने वाला ज्ञानी संसार के तमाम पदार्थोंसे नाता तोडकर अपनेही आत्म स्वरूपसे नाता जोडता है, अपने आत्माको ही सार वस्तु समझता है। अपने आत्माको ही क्रीडास्थल बनाता है। जिसने सहजानंदका पता पाया है। सहजानंदके पानेका मार्ग उपलब्ध किया है, वही सच्चा सम्यग्दृष्टि है वही श्रावक है, वही साधु । जो सहजानन्दको पानेके लिये पूर्ण प्रयत्नशील हो जाता है और इस प्रकारकी दृढ भावना पाता है कि—मैं कर्मोदयकी सब आपत्तियों को सहर्ष सहन कर लूंगा पर सहजानंदके पूर्ण लाभके बिना कभी भी चैन न

लूंगा ऐसा व्यक्ति आत्मामें विश्रांति पाता हुआ वैराग्यके पर्वत पर चढता हुआ गुणस्थान क्रमसे विरोधी कर्मशत्रुओं का क्षय कर अर्हत परमात्मा हो जाता है। फिर सिद्धालयमें जाकर सिद्ध रूपसे स्थिरतासे निवास करता हुआ सदा सहजानंदका उपभोग करता रहता है । इसलिये एक सत्य खोजीका कर्तव्य है कि वह सत्यका अनुयायी होकर चले और अपने द्वारा ही सहजानदको पाकर अनादि कालीन तृष्णाको शमन कर परम सन्तोषी होजावे । ज्ञान दर्शन गुणधारी आत्मा अनादि कालसे अपने ज्ञान दर्शनका लक्ष्य उन पदार्थोंको बना रहा था जिनके भोग करनेसे राग भाव द्वारा विषय सुखका। भान होता था, परन्तु कभी भी तृष्णा का दाह शमन नहीं कर पाता था इससे हर समय अनेक इच्छाओंके वशीभूत होकर आकुलित हो रहा था परन्तु श्री गुरुके प्रतापसे उसको सहजानन्दका पता चल गया और उसको ऐसा निश्चय होगया कि यह सहजानन्द मेरे ही आत्मामें पूर्ण भरा हुआ है । सो यह मेरे ही आत्माका स्वभाव है । ऐसी श्रद्धाके साथ जैसी २ रुचि बढती है यह अपने उपयोगको सम्पूर्ण परपदार्थोंसे इन्द्रियोंके विषय भोगोंसे संकुचित करता है और उस उपयोगको सहजानन्द धनी निजात्माके द्रव्य पर जोडता है । इसीका नाम योग या ध्यान है । आत्मीक ध्यानके प्रकाशसे आत्मस्व

होकर यह ज्ञानी जीव सहजानन्दको पालता है, फिर उस निजानन्दमे ऐसा आसक्त होजाता है जैसे भ्रमर कमलकी बासमें अनुरक्त होजाता है।

सहजानन्द स्वभावको प्रकाश करने वाला है और विषयानन्द विभावको बढाने वाला है। इस प्रकारकी प्रतीति का झलकाव जिसके भीतर होजाता है वही महात्मा सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि ही तत्वका विचार करने वाला होता है, सम्यग्दृष्टि परपदार्थोंमें कभी ममत्व बुद्धि नहीं करता है। वह तो ऐसा विचार करता है कि मोहको उत्पन्न करने वाले ये माता पिता पुत्र, स्त्री, कुटुम्बी जन आदि मेरे नहीं हैं, मै इनका नहीं हूं ये कुटुम्बी जन तो मिलकर दुख देने है। हे आत्मन् जो इनमें निजत्वकी बुद्धि करता है उसका दीर्घ संसार होता है। ये धनादिक सब पुद्गल के हैं। ये पुद्गल जो जड हैं, अज्ञानी हैं आत्माके रूपसे बिलकुल विपरीत हैं। वह मेरा कैसे हो सकता है। ज्ञानी तो ऐसा विचार करता है—

मत्त कायादयो भिन्नास्तेभ्योऽहमपितत्त्वतः
नाहं मषां किमप्यस्मि ममाप्येते न किंचन् ॥

अर्थात् ये शरीरादिक जो पुद्गलके बने हुए हैं वे सब मुझसे भिन्न हैं और मैं भी वास्तवमें इनसे भिन्न ही हूं। न

मैं इनका कुछ हूं और न ये मेरे कुछ हैं। सम्यग्दृष्टिको तो जब तक मुक्ति न हो परद्रव्योंसे हटनेकी ही भावना करनी चाहिये क्योंकि ऐसा करनेसे फिर परद्रव्योंमें प्रवृत्ति न हो सकेगी। इसलिये शनैः २ मुक्तिपदकी प्राप्ति हो जायगी तत्त्वज्ञानीको तो ऐसा विचार करना चाहिये—

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।
बाह्याः संयोगजाः भावा मत्तः सर्वेपि सर्वथा॥

अर्थात्–मैं एक हूं, ममतारहित, शुद्धज्ञानी और बड़े २ योगियोंके द्वारा जानने लायक हूं,। संयोगजन्य जितने भी देहादिक पदार्थ हैं वे सब मुझसे सर्वथा बाह्य वा भिन्न। ऐसे २ विचार करने वाला विवेकी किसी समय भी नवीन २ कर्मोंसे नहीं बंध सकता है। उसके तो कर्मोंकी निर्जरा होकर हमेशाको आत्म शुद्धि हो सकती है।

अत एव हे भव्यो! आप भी तत्वका विचार करो। भगवान जिनेन्द्रके वचनों पर विश्वास लाओ। इन सांसारिक पदार्थोंसे जो तुम्हारी आत्मासे बिलकुल भिन्न हैं ममत्व भाव छोडकर अपने स्वभावका विचार करो, उसकी प्रतीति करो, उसकी जानकारी करो तथा उसीमें लय रहो जिससे तुम्हारा भी कल्याण हो।

समाप्तोऽयं ग्रंथः।

शुद्धि-अशुद्धि पत्र

पृष्ठ	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
१	३	स्याबाद	स्याद्वाद
१	६	सवलीम	लवलीन
५	१०	हमशा	हमेशा
१०	११	खेत	खेद
१४	३	त्वरूप	स्वरूप
१४	१७	मक्षि	मोक्ष
२०	२	चतन्य	चैतन्य
४६	११	पुज्य	पुञ्ज
४८	९	हस	इस
५४	१२	परामुखता	पराङ्मुखता
५८	१	वरसे	करनेसे
५९	८	बा स	बालसे है
६२	८	मर्क	कर्म
६३	८	व्याघी	व्याधी
"	१९	तमामको	तमाम कर्मोको
६६	१९	विवर्धते	विवर्धते
६९	१५	सुन	सुत
६९	१६	सरीर्खो	सरीखो
७९	१४	जाता	ज्ञाता
९३	५	ग्यान	ध्यान
९३	५	ध्यान	ज्ञान

९३	१४	जिस	निज
९६	१७	आत्मा	आत्माकी
१०२	१७	चंचताके	चंचलताके
१०५	३	मावसे	भवसे
१०६	७	काम	काय
११२	१	शान्त	सान्त
११७	४	गुणक	गुणके विकारको
११७	१३	धमा	धर्मो
१२८	१९	देते हैं	देता है
१३०	१६	ब्रह्चर्य	ब्रह्मचर्य
१३२	१७	गुणवर्ती	गुणस्थानवर्ती
१४०	१८	कामेराग	कमिराग
१४३	२	वाधनेकी	बंधनेकी
१५४	१	व्यकुलता	व्याकुलता
१५९	१	दृढकर	ढूंढकर
१६२	१९	स्तजन	स्वजन
१६८	१०	कमा	कर्मोके
१७०	१८	मक्षावृत्ति	भिक्षावृत्ति
१७१	५	शस्क	शुष्क
१७१	९	भोचरिवृत्ति	गोचरिवृत्ति
१७१	१४	समाधिमरण	समाधिमरण
१७१	१७	जैसे डारमें	जैसे भंडारमें
१७१	२१	पुव्यको	पुष्पको
१७४	१३	अतिद्रव्य	अतिद्रव

१७६	६	आस्त्रव	आस्रव
१७६	६	वेआस्त्रव	वह आस्त्रव
१९८	४	द्रेव्य	द्रव्य
१९९	७	मर्ध	धर्म
२०२	९	जान न करें,	जानकर इनका त्याग करें
२०४	१२	क्यो	क्योंकि
२१३	८	अच्छिष्टतासे	उच्छिष्टतासे
२२४	१०	सप्त	सप्त,
२२५	१६	विज्ञाओंकी,	त्रियाओंकी,
२२६	२	मुदकी	मुर्देकी
२५७	११	पयाओ	पर्यायों
२५९	१५	कुद्धिकालिमा	कुट्टिकालिमा
२६८	३	प्रात:कालही,	प्रात:कालहीवाया
२६९	११	सद	सदा
२७१	२१	पात्र	मात्र
२७२	११	जानाजात	जाना जाता है
२७४	१६	ही विचरण,	मैं ही विचरण
२८०	१०	निदाष	निर्दोष
२८३	१६	गमा	गर्मी
२८७	१२	स्त्रादिकका,	वस्त्रादिकका
२८८	२१	धर्य	धैर्य
२९२	५	सकुडगई,	सुकड़ गया है
२९२	१३	देखता है	दिखाता है